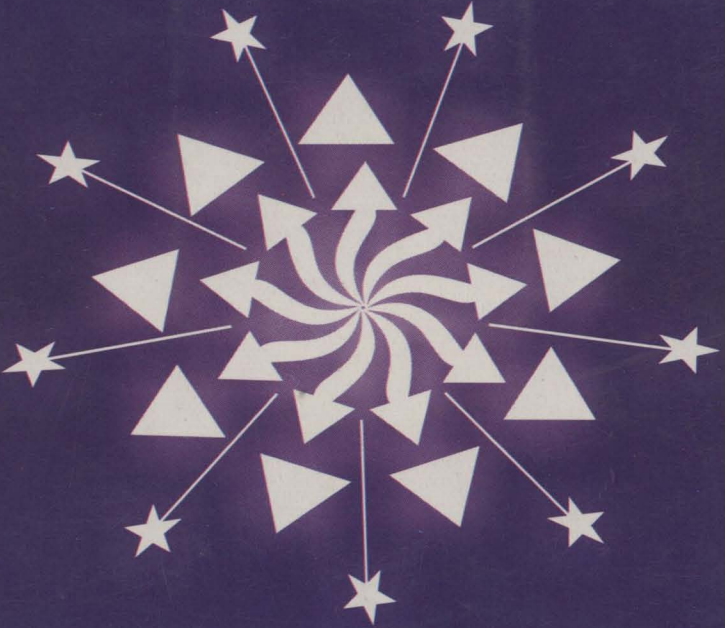


# नवतत्वः

## आधुनिक संदर्भ



## आचार्य महाप्रज्ञ

**नवतत्त्व : आधुनिक संदर्भ**

**आचार्य महाप्रज्ञ**

**प्रकाशक : जैन विश्व भारती,  
लाडनूँ-३४१३०६ (राज०)**

**ISB No. 81-7195-016-7**

**मूल्य : सात रुपये मात्र**

जीवन के 82 वर्ष 247 वें दिन (16 फरवरी सन् 2003)  
में प्रवेश कर आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा इतिहास दुर्लभ पृष्ठ  
सृजन के अवसर पर दीर्घ आयुष्य की मंगलकामनाओं सहित  
बुद्धमल सुरेन्द्र कुमार चौरड़िया, चाड़वास-कोलकाता  
संस्करण : 2003

**मुद्रक : सन्मति सर्विसेज, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32**

## प्रस्तुति

महावीर की साधना पद्धति का सर्वांगपूर्ण सूत्र है—नव तत्त्ववाद । जीव और मोक्ष, आत्मा और परमात्मा, एक बीज दूसरा निष्पत्ति । आत्मा परमात्मा हो सकती है । उसकी प्रक्रिया साधनात्मक है । उसके मूल तत्त्व दो हैं—संवर और निर्जरा । संवर निरोधात्मक तत्त्व है । निर्जरा विशोधनात्मक तत्त्व है । भविष्य का निरोध और अतीत का विशोधन होने पर ही वर्तमान परमात्मा की अनुभूति का हो सकता है । नव तत्त्ववाद में मोक्ष या परमात्मा के बाधक और साधक तत्त्वों का गंभीर विवेचन किया गया है । प्रस्तुत पुस्तक में उसकी आधुनिक शैली में प्रस्तुति है । इससे गहराई में उतर कर हृदय का स्पर्श करने की सुविधा हो सकती है ।

मुनि दुलहराजजी प्रारम्भ से ही साहित्य संपादन के कार्य में लगे हुए हैं । वे इस कार्य में दक्ष हैं । प्रस्तुत पुस्तक के संपादन में मुनि धनंजयकुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है ।

आचार्य महाप्रज्ञ



## अनुक्रम

१. वह जाता होना चाहता है	१
२. यह दुःख कहां से आ रहा है ?	९
३. स्वतंत्र भी बंधा हुआ है	१७
४. बोया बीज बबूल का, आम कहां से होय ?	२५
५. क्या दरवाजा बंद है ?	३३
६. मनोवृत्ति को बदला जा सकता है	४१
७. आत्मा और परमात्मा	५०



## वह ज्ञाता होना चाहता है

### महत्त्वपूर्ण प्रश्न

आईस्टीन से पूछा गया—आप क्या होना चाहते हैं ?  
आईस्टीन ने कहा—मैंने वर्तमान जीवन में ज्ञेय को जानने का प्रयत्न किया है। अगले जन्म में मैं संत होना चाहता हूँ। वह इसलिए कि मैं ज्ञाता को, जानने वाले को जान सकूँ। आज तक जो जानने योग्य है, उसे जानता रहा हूँ, किन्तु अब जो ज्ञाता है, जानने वाला है, उसे जानना चाहता हूँ।

ज्ञाता को जानने का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। कांट ने कहा—ज्ञाता को जाना नहीं जा सकता। ज्ञाता ज्ञेय नहीं बनता। अगर ज्ञाता ज्ञेय बने तो वह पदार्थ बन जाएगा। इस आधार पर उन्होंने इस बात का खंडन कर दिया। एक ओर प्रश्न है—मैं ज्ञाता को जानना चाहता हूँ, दूसरी ओर प्रश्न है—ज्ञाता अज्ञेय है, वह ज्ञेय नहीं बनता। इन दोनों प्रश्नों के संदर्भ में हमें अपना निर्णय करना है। जहाँ परस्पर दो विरोधी बातें प्रस्तुत होती हैं वहाँ निर्णय करने के लिए अनेकांत का सहारा लेना पड़ता है। विसंगति और विरोधाभास की स्थिति में अनेकांत के द्वारा समाधान का मार्ग खोजा जा सकता है।

### काण्ट का अभिमत

ज्ञाता ज्ञेय नहीं बनता, इस आशंका के पीछे कुछ हेतु हैं। एक हेतु है—ज्ञाता अमूर्त्त है, अभौतिक है, निराकार है। ज्ञेय बनता है पदार्थ। वह द्रव्य है। ज्ञाता—आत्मा पदार्थ नहीं



बन सकती। डेकार्टे ने आत्मा को द्रव्य माना। काण्ट ने इनका खंडन किया। काण्ट ने द्रव्य की एक निश्चित परिभाषा बना ली और उसके आधार पर आत्मा के द्रव्यत्व का खंडन कर दिया। द्रव्य की परिभाषा है—जिसमें भार है, जिसमें द्रव्यमान है, जिसका आयतन है और जो ज्ञेय होता है, वह द्रव्य है। आत्मा इसलिए ज्ञेय नहीं है कि उसमें भार नहीं है और उसका कोई आयतन भी नहीं है।

हम इस पर विमर्श करें। वस्तुतः द्रव्य की भाषा स्थूल पुद्गल के आधार पर ही गढ़ी गई है। आज भारहीन परमाणु भी खोज लिए गए हैं। उनमें भार नहीं है फिर भी वे द्रव्य हैं। स्थान को वही रोकता है, जो स्थूल है। सूक्ष्म द्रव्य स्थान को रोकता नहीं है। अनेकांत के अनुसार ज्ञाता भी द्रव्य है। उसके द्रव्य होने में कोई बाधा नहीं है। भारहीन भी द्रव्य है और भारयुक्त भी द्रव्य है। ज्ञेय तो सब होता ही है। ज्ञाता को ज्ञेय बनने में भी कोई कठिनाई नहीं है और उसके द्रव्य बनने में भी कोई कठिनाई नहीं है।

### सार्थक स्वप्न

इम बिन्दु पर आईस्टीन का यह स्वप्न सार्थक होता है—मैं ज्ञाता को जानना चाहता हूँ। यह स्वप्न पूरे अध्यात्म जगत् का स्वप्न रहा है। जिसके मन में ज्ञाता को जानने की अभीप्सा न हो, वह पूर्ण आध्यात्मिक नहीं बन सकता। ध्यान किसलिए है? यदि ध्यान मात्र मानसिक शांति के लिए ही है तो उसका अर्थ बहुत छोटा हो जाएगा। शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों की समाप्ति ध्यान का प्रासंगिक परिणाम है। ध्यान का मूल उद्देश्य है—ज्ञाता को जानना। जब तक मन में यह ललक नहीं जागेगी, ध्यान आगे नहीं बढ़ पाएगा।

वह मन के स्तर पर ही चलता रहेगा । जैसे दुनियावी आदमी मन के खेल खेलता है वैसे ही ध्यान करने वाला भी मन के खेल खेलता है । हमें मन से ऊपर उठकर चेतना के स्तर तक जाना है, ज्ञाता का संवेदन या अनुभव करना है ।

**स्वप्रकाशी है ज्ञाता**

ध्यान का मूल उद्देश्य है—ज्ञाता का साक्षात्कार, जानने वाले को जानना । प्रश्न हो सकता है—ज्ञाता स्वयं जानता है, फिर उसे क्यों जाना जाए । वही दूसरों को जान सकता है, जो स्वयं को जानता है । जो स्वयं को नहीं जानता, वह दूसरों को भी नहीं जान सकता । प्रमाण शास्त्र का प्रसिद्ध सूत्र है—वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है, जो स्वयं को भी जानता है और दूसरों को भी जानता है, जो अपना निश्चय भी करता है, दूसरों का निश्चय भी करता है । जो स्वयं प्रकाशी नहीं है; वह दूसरों को प्रकाशित नहीं कर सकता । जितने भी प्रकाशील द्रव्य हैं, वे स्वयं प्रकाशी हैं इसलिए दूसरों को प्रकाशित कर पाते हैं । यदि आत्मा—ज्ञाता स्वप्रकाशी नहीं है तो वह दूसरों को प्रकाशित नहीं कर सकता, इसलिए ज्ञाता स्व को जानता ही है । कोई भी ज्ञाता ऐसा नहीं है, जो अपने आपको नहीं जानता ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा—जीव निरन्तर जानता है इसलिए वह ज्ञायक है, ज्ञानी है और ज्ञान ज्ञायक से अव्यतिरिक्त है—

जम्हा जाणदि णिच्चं, तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी ।

णाणं च जाणयादो, अब्बदिरित्तं मुणेयम्बं ॥

व्यक्ति को प्रज्ञा के द्वारा यह ग्रहण करना चाहिए—  
जो जानने वाला है वह मैं हूँ, जो देखने वाला है वह मैं हूँ, शेष

सारे भाव मुझसे पर हैं ।

पण्णाए धित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयवो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥

पण्णाए धित्तव्वो जो णावा सो अहं तु णिच्छयवो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥

**ध्यान क्यों ?**

ज्ञाता को जानने का अर्थ है, उसे सर्वत्र और सर्वात्मना जानें, निरावरण रूप में जानें । ध्यान इसीलिए किया जाता है कि आवरण समाप्त हो जाए, हम ज्ञाता को सर्वात्मना जान लें । ध्यान का अर्थ कोरी एकाग्रता ही नहीं है । उसका अर्थ है निर्मलता युक्त एकाग्रता । निर्मलता के अभाव में जो एकाग्रता सघती है, वह ध्यान तो है किन्तु आर्त्त-रौद्र ध्यान है । निर्मलता है वीतरागता । राग-द्वेष का न होना ही ध्यान है । यह ज्ञाता को जानने का सबसे बड़ा साधन है । ज्ञाता को वही व्यक्ति जान सकता है, जो वीतराग है । जब तक वीतरागता नहीं आएगी तब तक आवरण बना रहेगा । जब तक आवरण रहेगा तब तक विघ्न और बाधाएं प्रस्तुत होती रहेंगी, आत्म-साक्षात्कार संभव नहीं बन पाएगा । ऐसी स्थिति में किसी माध्यम से जानना होगा । यदि माध्यम कमजोर होता है तो वह भ्रम भी पैदा कर देता है ।

**महत्त्वपूर्ण कथन**

आत्म-साक्षात्कार का होना सहज नहीं है । राग-द्वेष की लहरें निरन्तर उठती रहती हैं । उन लहरों में जिसका मन चंचल नहीं होता, बहता नहीं है, वही व्यक्ति आत्मा को देख सकता है । इसके बिना उसका दर्शन संभव नहीं बनता ।

कोरा बौद्धिक ज्ञान ज्ञाता को जानने में हमारी सहायता नहीं कर सकता। उपनिषद्कारों का यह कथन महत्त्वपूर्ण है—आत्मा को बलहीन आदमी कभी नहीं पा सकता, केवल बुद्धि से आत्मा को नहीं पाया जा सकता। आत्मा अमूर्त है। उसे जानने में इन्द्रियां, मन और बुद्धि हमारा सहयोग नहीं करते। ध्यान में सबसे पहले इन्द्रियों का प्रत्याहार किया जाता है। हम ध्यान में आंखें बंद करते हैं। इसका अर्थ यही है—भीतर में देखना है तो आंख हमारा सहयोग नहीं करेगी। भीतर को देखना है तो आंखें मूंदनी होंगी।

**अनिवार्य है इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता**

हमारे दो जगत् हैं—बाहरी जगत् और भीतरी जगत्। हम बाहर के जगत् से सर्वथा मुक्ति नहीं पा सकते, क्योंकि हमारा जीवन शरीर से जुड़ा हुआ है। किन्तु हम बाहर के लिए ही पूरी आंख खुली न रखें, हमें भीतरी जगत् को भी देखना है। भीतर को जानने के लिए इन्द्रियों का प्रत्याहार जरूरी है, इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता अनिवार्य है। जो व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, वह न ध्यान कर सकता है और न ज्ञाता को जान सकता है। वही व्यक्ति ध्यान कर सकता है, जिसने पांचों इन्द्रियों का प्रत्याहार करना सीखा है। जैन दर्शन का शब्द है—प्रतिसंलीनता और पंतजलि का शब्द है—प्रत्याहार। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—जो इन्द्रियां बाहर की ओर जा रही हैं, उन्हें भीतर खींच लेना। यही प्रतिसंलीनता व्यक्ति को अपने आप में लीन कर देती है। जब इन्द्रियों की प्रति संलीनता होती है, राग और द्वेष की तरंगें अपने आप शांत हो जाती हैं। उस अवस्था में एक नई चेतना का जागरण होता है। वह है अतीन्द्रिय चेतना, निर्मल चेतना या वीतराग

चेतना । उस वीतराग चेतना की उपलब्धि के द्वारा ही ज्ञाता को जाना जा सकता है ।

**आश्चर्य है आस्तिक होना**

आइंस्टीन के इस कथन, 'मैं संत होना चाहता हूँ,' का अर्थ है—मैं वीतरागता की साधना करने वाला होना चाहता हूँ । जो संत नहीं होता, वह ज्ञेय को जानता है, ज्ञाता को नहीं जानता । आज ज्ञेय को जानते-जानते आदमी कहीं भी रुक नहीं पा रहा है । अपने आप में ठहरने के लिए वीतरागता की साधना करना जरूरी है ।

ध्यान का मुख्य उद्देश्य है—ज्ञाता को जानने वाली चेतना का विकास । जितने वैज्ञानिक उपकरण हैं, वे स्थूल को जानते हैं और एक सीमा तक सूक्ष्म को भी जानते हैं । किन्तु परमसूक्ष्म को जानने वाले उपकरण निर्मित नहीं हो पाए हैं । उस परम सूक्ष्म या अमूर्त को केवल वीतरागी चेतना के द्वारा ही जाना जा सकता है । इसीलिए अनेक महर्षियों ने वीतरागी चेतना की साधना की, उसके द्वारा आत्मा का साक्षात्कार किया । उन्होंने कहा—ज्ञाता है, आत्मा है । आत्मा का निरूपण करना बहुत कठिन है । इन्द्रिय जगत् में जीने वाला आत्मा की बात करे, यह कैसे संभव हो सकता है ? इसीलिए नास्तिकता को बल मिला । मैं तो यह मानता हूँ—नास्तिक होना आश्चर्य नहीं है, आश्चर्य है आस्तिक होना ।

**आत्मा : साकार या अनाकार**

जिन लोगों ने वीतरागी चेतना को स्वीकार किया, समझा, उन्होंने आत्मा को स्वीकार किया, उसे देखा, उसका साक्षात्कार किया । निश्चय नय की भाषा में कहें तो आत्मा

है। व्यवहार नय की भाषा में कहें तो जीव है। आत्मा का मतलब है—शुद्ध आध्यात्मिक सत्ता और जीव का मतलब है—प्राण। अनेकांत के अनुसार आत्मा और जीव—दोनों मान्य हैं। वेदान्त में आत्मा मान्य नहीं है, जीव शुद्ध रूप से मान्य नहीं है। जैन दर्शन में आत्मा और जीव—दोनों मान्य हैं। जीवनी शक्ति जीव है। जीव प्राण के द्वारा अपना जीवन चलाते हैं। वह जीवन तत्व है वह शरीर के साथ जुड़ा हुआ है इसीलिए साकार बना हुआ है। पर अपने शुद्ध एवं आंतरिक रूप में वह अनाकार बना हुआ है। संसार में जितने जीव हैं, उनकी आत्मा अनाकार नहीं है, साकार है। साकार का साकार के साथ ही संबंध स्थापित हो सकता है। अनाकार का साकार के साथ कभी संबंध स्थापित नहीं हो सकता। आत्मा साकार बना हुआ है इसीलिए शरीर के साथ हमारा संबंध चलता है। यदि हम आत्मा को सर्वथा अनाकार या अभौतिक मान लें तो यह संबंध स्थापित नहीं हो सकता।

### डेकार्टे का मंतव्य

डेकार्टे ने कहा—आत्मा का निवास पिनियल ग्लैंड में है। आत्मा वहां रहती है और वहीं से पूरे शरीर को प्रकाशित करती है। डेकार्टे के इस मंतव्य पर कांट तथा अनेक दार्शनिकों ने आपत्ति की—साकार शरीर में अनाकार आत्मा कैसे रह सकती है? डेकार्टे ने आत्मा को अभौतिक—निराकार मान लिया किन्तु उसके साथ अनेकांत का सहारा नहीं लिया इसीलिए यह आपत्ति प्रस्तुत हुई। यदि अनेकांत का सहारा लिया जाता तो यह उलझन पैदा नहीं होती।

जैन दर्शन में नौ तत्त्व माने गए हैं। उनमें पहले दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव। जहां ज्ञाता है वहां अज्ञाता का

होना जरूरी है। अगर अज्ञाता नहीं है तो ज्ञाता क्या होगा ? जीव है तो अजीव का होना जरूरी है। प्रतिपक्ष निश्चित होगा। मूर्त्त है तो अमूर्त्त भी होगा। अपने शुद्ध अस्तित्व की दृष्टि से जीव अमूर्त्त है। शरीरधारी होने के नाते वह मूर्त्त भी है।

### संत बनना होगा

जैन दर्शन के अनुसार जीव पूरे शरीर में रहता है। आत्मा का द्रव्यमान है, आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। आत्मा में भार नहीं है। अमूर्त्त में भार नहीं होता। निष्कर्ष की भाषा होगी - वह ज्ञाता, जो अमूर्त्त भी है मूर्त्त भी है, आत्मा भी है, जीव भी है, जो भारहीन भी है, द्रव्यमान वाला भी है और चैतन्यमय है, उस ज्ञाता को जानना है। यदि हम उसे जानने के लिए बौद्धिक व्यायाम या तर्क का सहारा लेंगे तो अधिक दूर तक नहीं पहुंच पाएंगे। यदि हमें ज्ञाता को जानना है तो संत बनना होगा, वीतराग चेतना का विकास करना होगा। उसका सबसे बड़ा माध्यम है—ध्यान, इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता। यदि यह तथ्य समझ में आ जाए तो ज्ञाता को जानने का संकल्प पूरा हो सकेगा, उमे जानने का रास्ता भी आसान बन जाएगा।

## यह दुःख कहां से आ रहा है ?

जीव और अजीव—ये दो तत्त्व हैं। जीव की भी स्वतंत्र सत्ता है और अजीव की भी स्वतंत्र सत्ता है। प्रश्न उठा—दोनों में संबंध कैसे है ? भारतीय और पाश्चात्य—दोनों दशनों में यह प्रश्न बहुत उलझा हुआ रहा है। एक चेतन है और एक अचेतन। एक अमूर्त है और एक मूर्त। दोनों में संबंध कैसे स्थापित हो सकता है ? यह स्वीकार किया गया—इन दोनों में अतःक्रिया है, दोनों एक दूसरे से प्रभावित हो गए हैं। पर यह संबंध कौन स्थापित कर रहा है और यह संबंध कैसे स्थापित हो रहा है ? हम इस पर विचार करें। यह स्वीकार करना चाहिए—अमूर्त और मूर्त में कभी संबंध नहीं हो सकता, चेतन और अचेतन में कभी संबंध स्थापित नहीं हो सकता। चेतन और अचेतन—दोनों में स्पर्श हो सकता है पर वे एक-दूसरे को प्रभावित करें, यह कभी संभव नहीं है। संबंध तभी हो सकता है, जब एक-दूसरे में गहरा तादात्म्य हो, अन्यथा संबंध का होना कभी संभव नहीं है।

### समस्या का हेतु

तर्कशास्त्र में कहा जाता है “वर्षातपाभ्यां किं व्योमनः”  
—मूसलाधार वर्षा बरसे या गहरी धूप पड़े, आकाश पर क्या उनका असर होता है ? वर्षा से आकाश ठंडा नहीं होता और धूप से आकाश गरमा नहीं जाता। धूप और वर्षा से आकाश में कोई अन्तर नहीं आएगा, वह वैसा का वैसा बना रहेगा।



अमूर्त्त-मूर्त्त से कभी प्रभावित नहीं हो सकता । प्रश्न है— यह समस्या क्यों पैदा हुई ? जब चेतनासत्ता—आत्मा को सर्वथा अमूर्त्त मान लिया गया, पुद्गल को मूर्त्त मान लिया गया, दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई, तब यह समस्या पैदा हुई । जैन दर्शन में जीव को कभी सर्वथा अमूर्त्त नहीं माना गया, पर एक अवस्था आती है, जीव अमूर्त्त बन जाता है । वह सर्वथा अमूर्त्त नहीं है । प्रत्येक देहधारी प्राणी एक अवस्था से मूर्त्त है, शरीर से जुड़ा हुआ है ।

### अनादिकालीन संबंध

प्रश्न हुआ—जीव शरीर के साथ कब से जुड़ा हुआ है ? उत्तर दिया गया—जब से जीव है तब से वह शरीर के साथ है । ऐसा कोई काल नहीं रहा, जिसमें जीव रहा किन्तु शरीर नहीं रहा । जीव कब से शरीरधारी है, उसका कोई पता नहीं है । कहा जा सकता है—जीव और शरीर का यह संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है । यदि पुद्गल के साथ आत्मा का संबंध माना जाए तो मुक्त आत्मा के साथ भी पुद्गल का संबंध मानना होगा । जो आत्मा शरीर से मुक्त है, उसके साथ भी संबंध मान्य करना होगा किन्तु उनके बीच संबंध नहीं है । पुद्गल पुद्गल है, आत्मा आत्मा है । पूरे लोक में जीव और पुद्गल व्याप्त हैं, किन्तु दोनों में कोई संबंध नहीं है । न पुद्गल से मुक्त-आत्मा प्रभावित होती है न मुक्त-आत्मा से पुद्गल । हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे—जीव और पुद्गल में संबंध स्थापित नहीं किया गया किन्तु वह प्राकृतिक रूप से, नैसर्गिक रूप से चला आ रहा है । जो प्राकृतिक होता है, उसमें तर्क नहीं होता ।

## स्रोत है योग

एक प्रश्न है—जीव और पुद्गल के बीच जो संबंध है, वह चल कैसे रहा है ? उसका एक स्रोत है । जो शरीर आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है, वह निरन्तर अपनी सुरक्षा कर रहा है । उसने ऐसे स्रोत बना लिए हैं, जिनसे निरन्तर रस प्राप्त हो रहा है । उसे पोषण देने वाला, चिरजीवी बनाने वाला जो तत्त्व है, उसका नाम है—आश्रव । वह निरन्तर पुद्गलों को खींच रहा है, अपने आपको पुष्ट बना रहा है, कभी क्षीण नहीं होने दे रहा है । शरीर ने अपने साथ दो तत्त्व और प्राप्त कर लिए हैं—वाणी और मन । इन तीनों का योग बन गया, जो निरन्तर उसका पोषण कर रहे हैं । इसे पारिभाषिक शब्दावली में कहा गया—कायवाङ्मनःव्यापारो योगः—काया, वाणी और मन का जो व्यापार है, जो प्रवृत्ति है, उसका नाम है—योग ।

महर्षि पतंजलि ने भी योग शब्द का प्रयोग किया है । जैन दर्शन में भी वह प्रयुक्त हुआ है । इसके अर्थ में सादृश्यता भी है, असादृश्यता भी है । योग का एक अर्थ है—जुड़ना और जोड़ना । योग का दूसरा अर्थ है—समाधि या एकाग्रता ।

## टिकाने वाला बिन्दु

प्रश्न है—हमारा संबंध कसे बना हुआ है ? हम कैसे जुड़े हुए हैं ? काया, वाणी और मन—इन तीनों की प्रवृत्ति चल रही है । ये तीनों पुद्गलों को बाहर से खींचते हैं और जीव को पुद्गलों के साथ जोड़ते हैं । योग आश्रव है । दीपक जल रहा है, बाती निरन्तर तैल को खींच रही है । हमारी प्राणधारा भी पुद्गलों के आधार पर निरन्तर चलती जा रही है । इसी आधार पर पुद्गलों की वर्गणाएं बना दी गईं ।

वर्गणाएं आठ हैं—पांच शरीर की, एक भाषा की, एक मन की और एक श्वासोच्छ्वास की ।

जीव और पुद्गल के संबंध को टिकाने वाला बिन्दु हमें ज्ञात है । वह है आश्रव योग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति ।

**प्रश्न दुःख को रचना का**

एक प्रश्न है—दुःख कहां से आ रहा है ? जीव का लक्षण है—उपयोग, ज्ञान और चेतना । जीव चैतन्यमय है । चैतन्य का स्वभाव दुःख नहीं है । उसका स्वभाव है—शक्ति, दर्शन और आनंद । जब आनंद चैतन्य का स्वभाव है तब दुःख कहां से आया ? एक समाधान दिया गया—ईश्वर ने दुःख बना दिया ताकि व्यक्ति प्रमाद में न रहे, भूलें न करे किन्तु जब तक हम दुःख और अशुभ की जैविकीय स्तर पर चर्चा नहीं करेंगे तब तक दुःख की बात समझ में नहीं आएगी । दुःख की रचना न ईश्वर ने की है और न ही जागरूक रहने के लिए दुःख की रचना की गई है । दुःख की रचना संबंध के साथ जुड़ी हुई है । जीव और पुद्गल के संबंध की परिणति है—सुख और दुःख । योग के द्वारा जो लिया जा रहा है, वह अच्छा भी है, बुरा भी है, शुभ भी है, अशुभ भी है । सुख और दुःख, पुण्य और पाप—दोनों हमारी प्रवृत्ति के द्वारा आ रहे हैं । जैसी हमारी प्रवृत्ति होती है वैसा ही उसका परिणाम आता है । हमारी प्रवृत्ति शुभ होती है तो आश्रव पुण्य का होता है और हमारी प्रवृत्ति अशुभ होती है तो आश्रव पाप का होता है ।

**क्या आत्मा शुद्ध है ?**

प्रश्न हो सकता है—जब ज्ञाता - आत्मा चैतन्यमय है

तो वह अशुभ की सृष्टि क्यों करेगा ? जो प्रश्न ईश्वर के संदर्भ में उपस्थित होता है वही प्रश्न आत्मा के संदर्भ में प्रस्तुत हो जाता है । हम मुड़कर देखें । आत्मा शुद्ध है, यह हमारी कल्पना है । वस्तुतः वह शुद्ध नहीं है । जब तक आत्मा शरीर के साथ जुड़ी हुई है तब तक उसे शुद्ध कैसे माना जाए ? जब तक आत्मा राग-द्वेष की प्रवृत्ति के साथ जुड़ी हुई है तब तक वह शुद्ध कैसे हो सकती है ? शुद्ध आत्मा की बात मुक्त अवस्था में की जा सकती है । जहां पुद्गल से कुछ भी लेना-देना नहीं है, वहां शुद्ध आत्मा का प्रश्न आता है । इस शरीर में राग-द्वेष में फसी हुई आत्मा शुद्ध है, यह नहीं कहा जा सकता ।

### तीन भूमिकाएं

हमारी तीन भूमिकाएं हैं—शुभ की भूमिका, अशुभ की भूमिका और संवर की भूमिका । जहां शुभ और अशुभ दोनों नहीं हैं, पुण्य और पाप दोनों क्षीण हो जाते हैं, वहां न शुभ होता है, न अशुभ होता है । जब तक हमारा जीव अशुद्ध है तब तक वह शुभ और अशुभ—दोनों को पैदा करता रहेगा । व्यक्ति स्वयं अशुभ को पैदा कर रहा है । इसमें बाहर का कोई लेना-देना नहीं है । अशुभ को न ईश्वर पैदा कर रहा है, न शैतान पैदा कर रहा है, न कोई तीसरी शक्ति उसे पैदा कर रही है । स्वयं का अशुद्ध जीव ही उसे पैदा कर रहा है ।

### दुःख का स्रोत

दुःख का स्रोत है—आस्रव । हम यह स्वीकार करें—हमारे भीतर ज्ञान है, दर्शन और आनंद है पर उसके साथ ही अज्ञान है, अदर्शन है और आनंद भी बाधित है इसलिए अशुद्ध

जीव दुःख को पैदा कर रहा है। जीव की पहली समस्या यह है कि वह पुद्गल के साथ जुड़ा हुआ है और पुद्गल के योग ने एक समस्या पैदा कर दी, वह है चंचलता। दुःख का कारण है—चंचलता। मन, वाणी और शरीर—तीनों चंचल बने हुए हैं। महर्षि पंतजलि ने लिखा—दुःख, दौर्मनस्य आदि चंचलता से उत्पन्न समस्याएं हैं। चंचलता नहीं है तो दुःख नहीं होगा। हम समाधि में बैठ जाएं, एकाग्र हो जाएं, कोई दुःख नहीं होगा, दौर्मनस्य नहीं होगा, प्रकंपन नहीं होगा, श्वास-निःश्वास की अव्यवस्था नहीं होगी। ये सभी समस्याएं चंचलता में पैदा होती हैं।

**समस्या है चंचलता**

हम जैन दर्शन की दृष्टि से विचार करें। जैन दर्शन के अनुसार चंचलता के साथ चार बड़ी समस्याएं पैदा होती हैं—मिथ्या दृष्टिकोण, आकांक्षा, प्रमाद और आवेश। अग्नि और वायु का संबंध है। यदि आक्सीजन नहीं मिलेगी तो आग बुझ जाएगी। दृष्टिकोण मिथ्या है, आकांक्षा है, आवेश है, प्रमाद और उत्तेजना भी है किन्तु जब तक चंचलता का योग नहीं मिलता, यह प्राणवायु नहीं मिलता तब तक वे उद्दीप्त नहीं होते। योग के द्वारा चंचलता के द्वारा इन सबका उद्दीपन हो रहा है। हमारे भीतर जितनी भी समस्याएं हैं, उन्हें प्राण दे रही है हमारी चंचलता।

**कायोत्सर्ग का अर्थ**

ध्यान करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले कायोत्सर्ग के बारे में समझाया जाता है। कायगुप्ति होगी, काया को स्थिरता सधेगी, चंचलता अपने आप कम हो जाएगी। दूसरा सूत्र है—वाक् गुप्ति, स्वरयंत्र का शिथिलीकरण, कंठ का

कायोत्सर्ग । तीसरा सूत्र है—चिन्तन का निरोध । जब मन, वाणी और काया—इन तीन का निरोध होगा तब ध्यान होगा । जितनी काया को एकाग्रता सधेगी, वाणी और मन को एकाग्रता सधेगी, ध्यान उतना ही प्रबल और लाभकारी होगा । जब रसद को सप्लाई ही नहीं होगी तो सेना लड़ेगी कैसे ! काया, वाणी और मन के द्वारा जो रसद मिलती है, जब वह बंद हो जाएगी तब ध्यान का अध्याय प्रारंभ होगा, आश्रव का द्वार सिकुड़ जायेगा, बाहर से आना बंद हो जाएगा । इस स्थिति में ही ध्यान सधता है, ज्ञाता को समझने का अवसर मिलता है ।

### दो अवस्थाएं

समस्या है मूढ अवस्था । जब तक चित्त की मूढ अवस्था रहेगी तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा । यह अवस्था बनती है श्वास, योग और चंचलता के कारण । जितना श्वास, जितना योग, जितनी चंचलता उतनी क्षिप्त अवस्था । इस स्थिति में सत्वगुण कमजोर हो जाता है, रजोगुण और तमोगुण प्रबल हो जाता है । दो अवस्थाएं हैं—अज्ञानता की अवस्था और मूढ़ता की अवस्था । एक व्यक्ति नहीं जानता, यह अज्ञानता है । एक व्यक्ति जानते हुए भी नहीं जानता, यह मूढ़ता है । आश्रव का पहला प्रकार है—मिथ्या दृष्टिकोण । मिथ्या दृष्टिकोण बना और मूढ़ता आ गई । मूढ़ व्यक्ति जाता है—सुख की दिशा में और प्राप्त करता है—दुःख ।

### चंचलता और आश्रव

दुःख का पहला स्रोत है—मिथ्या दृष्टिकोण । दूसरा स्रोत है—अविरति—आकांक्षा । व्यक्ति में इतनी आकांक्षा है कि जिसका कोई अन्त नहीं । तीसरा स्रोत है—प्रमाद । व्यक्ति

को धन याद रह जाता है, मान याद रह जाता है, अमान और गाली याद रह जाती है किन्तु मैं चैतन्यमय हूं, आनन्दमय हूं, यह याद नहीं रहता । चौथा स्रोत है—कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ । इन सबको उद्दीप्त करती है—चंचलता । जो व्यक्ति आत्मा से परमात्मा बनना चाहता है, ध्यान करना चाहता है, उसे सबसे पहले ध्यान देना होगा चंचलता पर । चंचलता कम होगी, आश्रव कम होगा, चंचलता मिटेगी, आश्रव का द्वार बंद हो जाएगा, दुःख का स्रोत बन्द हो जाएगा ।

## स्वतंत्र भी बंधा हुआ है

जो दिखाई देता है, वह है शरीर । इस शरीर में बहुत कुछ है, पर वह आंखों से दिखाई नहीं देता, कानों से सुनाई नहीं देता, किसी इन्द्रिय की पकड़ में नहीं आता । फ्रायड ने जीवन की व्याख्या मन के दो संभागों के आधार पर की । एक संभाग है चेतन, दूसरा है अचेतन । यूंग ने इस अवधारणा को मान्य नहीं किया । यूंग ने कहा—मन बहुत छोटा तत्व है । हमारा चित्त स्थायी है, साथ में रहने वाला है । चेतन और अचेतन—ये दोनों चित्त के संभाग हैं । चेतन है प्रकाशमय और अचेतन है अन्धकारमय । किन्तु चेतन और अचेतन—दोनों का योग करने पर ही जीवन की समग्रता के साथ व्याख्या की जा सकती है ।

### जीवन के चार आयाम

जैन दर्शन में जीवन के चार विशेष आयाम माने गए हैं—आश्रव, बंध, पुण्य और पाप । इन चारों के आधार पर जीवन की व्याख्या की जा सकती है । एक तत्त्व है आश्रव, जो बाहर से निरन्तर ग्रहण कर रहा है । एक तत्त्व है बंध, उसका काम है भण्डारण करना । जो भण्डार बन गया, वह समय-समय पर बाहर आता है, आन्तरिक चेतना को प्रभावित करता है । उसी के आधार पर चेतन का आचरण और व्यवहार चलता है । चेतन की व्याख्या करने के लिए भीतर में जो अंधकारमय भाग है, जो प्रकाश नहीं है, उसे समझना जरूरी



है। वह है बंध। मनोविज्ञान के अचेतन तत्त्व की जैन दर्शन की परिभाषा में एकांश में तुलना करें तो वह है—बंध। बंध है अचेतन। जैसे अचेतन तत्त्व बाहरी उद्दीपनों से प्रगट होकर चेतना को प्रभावित करता है वैसे ही बंध भी बाहरी उद्दीपनों या काल-मर्यादा को प्राप्त कर चेतन को प्रभावित करता है।

### फ्रायड का अभिमत

फ्रायड ने माना—अचेतन में गंदगी भरी है, दमित वासनाएं भरी हुई हैं, बुराइयां ही बुराइयां हैं। यूंग का मानना था—अचेतन में केवल बुराइयां ही नहीं हैं, उसमें अच्छाइयों के संस्कार भी हैं। जैन दर्शन का अभिमत है—बंध में पुण्य भी है, पाप भी है। पुण्य और पाप—दोनों के परमाणु संचित हैं। समय-समय पर ये दोनों प्रकट होते रहते हैं। कभी पुण्य के स्कंध बाहर आ जाते हैं, कभी पाप के स्कंध बाहर आ जाते हैं। इस बाहर आने की अवस्था को कहा गया—विपाक। उनकी फल देने की शक्ति को कहा गया—अनुभाग। उनकी काल-मर्यादा को कहा गया—स्थिति और उनके स्वभाव को कहा गया—प्रकृति। जो भी परमाणु भीतर जाते हैं, उनमें एक स्वभाव पड़ जाता है। वे परमाणु स्वभाव के अनुसार अपना-अपना काम करते हैं। वे काल-मर्यादा से बंधे हुए हैं। उन्हें एक निर्धारित काल तक भंडार में रहना होता है। जब काल-मर्यादा पूर्ण होती है तब वे परिपक्व होकर बाहर आते हैं, व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। उनका फलानुभव होता है, व्यक्ति को उनका फल मिलता है। यह है अन्तर्जगत का लेखा-जोखा।

### यूंग का दृष्टिकोण

फ्रायड ने बहिर्मुखता के आधार पर चित्त का अध्ययन

किया, बाह्य जगत् में होने वाले मुख्य मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया। यूंग ने आन्तरिक जगत् का अध्ययन किया। उनके जो साइकोलॉजिकल प्वाइट्स हैं, उनमें अन्तर्मुखी और बाह्यमुखी—दोनों व्यक्तित्व मिलते हैं। आन्तरिक अध्ययन का विषय है—व्यक्ति में क्या-क्या अभिव्यक्तियां होती हैं, व्यक्ति कैसे-कैसे सोचता है और चलता है? बाहरी जगत् में उसका मानवीय व्यवहार कैसा होता है? हमारा अन्तर् का जगत्, अचेतन का जगत् बहुत बड़ा है। वह अंधकारमय और अज्ञात है। अचेतन को समझने के लिए कर्मशरीर को समझना जरूरी है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म है—तैजस शरीर। उससे भी सूक्ष्म है—कर्म-शरीर। यह कर्म-शरीर है सूक्ष्मतर। यह हमारा अचेतन का स्तर है। बाहर से जो भी लिया जाता है, वह सारा कर्म-शरीर में चला जाता है। ग्रहण करने का कारण है—कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ इनकी प्रेरणा से प्रेरित होकर जीव कर्म के पुद्गलों का ग्रहण करता है। वे कर्म के परमाणु भीतर जाकर भंडार बन जाते हैं। फिर वे पकते हैं और पकने के बाद फल देते हैं।

### मनोविज्ञान : चार क्रियाएं

मनोविज्ञान में चार क्रियाएं मानी गई—संवेदन, चिंतन, भावना और अन्तर्दृष्टि। बाह्य जगत् में चार क्रियाएं हो रही हैं। प्रश्न है—इनका स्रोत कहां है? स्रोत का पता नहीं चलता है तो बड़ा भ्रम पैदा हो जाता है। हम केवल शरीर को ही न देखें, वाणी और संवेदन को ही न देखें, हम उसे गहराई से देखें, जहां से चिन्तन, संवेदनाएं और भावनाएं आ रही हैं। वह है कर्म-शरीर—अचेतन जगत्। हम कर्म-शरीर की प्रक्रिया को समझें, उसका अध्ययन करें। कर्म-शरीर क्या

है ? उसे पोषण कौन दे रहा है ? वह कैसे हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित कर रहा है ? इस प्रक्रिया को समझने के लिए पुण्य, पाप, आश्रव और बंध—इन चार तत्त्वों को समझना होगा । जब तक यह तत्त्व-चतुष्क समझ में नहीं आएगा तब तक न उलझनों का अन्त होगा, न मानसिक समस्याओं और दुःखों का अन्त होगा ।

### प्रश्न स्वतंत्रता का

हम अपने रूप में नहीं रह सकते क्योंकि हमारा स्रोत खुला हुआ है । जब तक कर्म-शरीर की यह क्रिया बंद नहीं होगी, अचेतन प्रकंपित नहीं होगा तब तक यह चक्र निरन्तर चलता रहेगा । आश्रव होता है और वह बहुत सामग्री भीतर भेज देता है । जो शरीर भरेगा, वह बाहर आएगा और जो बाहर आएगा वह प्रभावित करेगा । इस आधार पर हमारे चरित्र और व्यवहार की व्याख्या हो सकती है । प्रत्येक व्यक्ति सोचता है—मैं स्वतंत्र हूँ । स्वतंत्रता का अहंकार भी होता है । पर क्या हम सही अर्थ में स्वतंत्र हैं ? स्वतंत्र नहीं हैं, यह नहीं कहा जा सकता । यदि व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है तो जीवन की व्याख्या करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है । वह कोरी कठपुतली बन जाएगा । किन्तु आदमी कोरी कठपुतली नहीं है । वह स्वतंत्र भी है ।

### संचालक कौन है ?

जीवन में दोनों प्रकार के व्यवहार मिलते हैं । व्यक्ति कहीं-कहीं अपनी उदात्त चेतना के द्वारा ऐसा स्वतंत्र व्यवहार करता है कि कोई आड़े नहीं आता । कहीं-कहीं वह कठपुतली जैसा व्यवहार करता है, जैसे कोई दूसरा उसे नचा रहा है । प्रश्न होता है—उसे कौन नचा रहा है ? कौन चला रहा है ?

ईश्वरवादी मानते हैं—ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। प्रत्येक मनुष्य के जीवन को ईश्वर चला रहा है, किन्तु कर्मवाद को मानने वाला ऐसा नहीं मानता। क्या कर्मवाद चला रहा है? ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। अगर कर्मवाद चलाए तो ईश्वरवाद क्यों न चलाए? कर्मवाद भी व्यक्ति को नहीं चलाता। चलाने वाली हमारी अपनी आत्मा है, हमारी अपनी चेतना है। बीच-बीच में अनेक बाधाएं अवश्य आती हैं, इसलिए आदमी एक जैसा नहीं चल पाता।

### व्याख्या का सूत्र

प्रश्न होता है आज तक कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ, जिसका जीवन एक जैसा रहा हो? जीवन में उतार-चढ़ाव न आए हों। इसका कारण क्या है? इसकी व्याख्या का सूत्र क्या है? इसकी व्याख्या का सूत्र वही है—कर्मशरीर। इस अन्ध-कारमय जगत् में पुण्य और पाप दोनों का भण्डार है। पाप का भी भण्डार भरा है, पुण्य का भी भंडार भरा है। जिसको मौका मिलता है, वह बाहर आ जाता है और व्यक्ति को प्रभावित कर देता है। पाप सामने आता है तो अशुभ सामने आ जाता है, जीवन में अशुभ आचरण और व्यवहार होने लगता है। पुण्य सामने आता है तो जीवन में शुभ आचरण और व्यवहार होने लग जाता है। शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप—दोनों का भंडार हमारे भीतर भरा पड़ा है। वह जैसा-जैसा बाहर आता है, आदमी वैसा-वैसा बनता जाता है। इसी अर्थ में कहा जाता है—बंधा हुआ व्यक्तित्व। आदमी मुक्त नहीं है, बंधा हुआ है।

### दोहरा व्यक्तित्व

हमारा व्यक्तित्व सहज ही दोहरा है, बाह्य और आन्त-

रिक—दोनों है । एक व्यक्ति बहुत अच्छा आचरण करने वाला है पर चलते-चलते भीतर में जो पाप का प्रवाह था, उसका उदय हो गया और व्यक्ति का आचरण बदल गया । मनो-वैज्ञानिकों ने चेतन और अचेतन के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या करने का प्रयत्न किया । उनके सामने कर्मवाद का सिद्धान्त नहीं था, पुण्य और पाप का सिद्धान्त नहीं था, इसी-लिए उनकी व्याख्या पूर्ण नहीं बन पाई । मानवीय व्यवहार की व्याख्या तब तक पूर्णता के साथ नहीं की जा सकती जब तक पुण्य, पाप, बंध और आश्रव की प्रक्रिया को नहीं समझा जाता । इन्हीं चार आधारों पर कर्मवाद चलता है । इनको समझे बिना मानव-व्यवहार की सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती ।

### दोनों तरफ चलें

व्यवहार के संदर्भ में हमें यह स्वीकार करना होगा कि भीतर से कोई अच्छा प्रवाह आ रहा था, तब तक सब ठीक-ठाक चल रहा था । भीतरी प्रवाह बदला और व्यक्ति का आचरण बदल गया । आचरण और व्यवहार की व्याख्या भीतरी प्रवाह के आधार पर, कर्म विपाक के आधार पर करनी होगी । आज एक आदमी बुरा आचरण कर रहा है पर अच्छा कहला रहा है, सुख भोग रहा है । इसका अर्थ है—भंडार में से कुछ आ रहा है । एक आदमी अच्छा आचरण कर रहा है पर बुरा कहला रहा है, दुःख भोग रहा है । इसका अर्थ है—भंडार में से कुछ आ रहा है । व्याख्या करने के लिए दोनों तरफ चलना होगा—भीतर से बाहर और बाहर से भीतर । दोनों प्रणालियां चल रही हैं । बाहर वाला भीतर को फीड कर रहा है, भीतर वाला बाहर को फीड कर रहा है । इन दोनों

प्रणालियों को समझ लें तो जीवन की व्याख्या करने में कोई कठिनाई नहीं होगी ।

### नैतिकता का आधार

केवल बाहर के व्यवहार और आचरण के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या हो तो पग-पग पर नैतिकता के टूटने का अवसर बना रहता है । लोग कहते हैं—अमुक व्यक्ति ने इतनी बुराइयां कीं, स्मगलिंग की और वह बड़ा आदमी बन गया । अमुक आदमी ने रिश्वत ली, पैसे वाला बन गया । ईमानदारी की बात करने वाला गरीब रह जाता है, रोटी की समस्या से जूझता रहता है । यह नैतिकता को तोड़ने के लिए प्रेरित करने वाला उदाहरण है । जब तक आश्रव और बंध की प्रक्रिया को नहीं समझा जाएगा तब तक नैतिकता और चरित्र की बात समझ में नहीं आएगी । जब तक आश्रव और बंध को नैतिकता का आधार नहीं माना जाएगा तब तक नैतिकता का अस्तित्व ही नहीं बन पाएगा ।

बाहरी जगत् के आधार पर कोई व्यक्ति नैतिक क्यों बनेगा ? इस दृश्य जगत् में वे व्यक्ति ज्यादा अच्छा जीवन जीते हैं जो अनैतिकतापूर्ण आचरण करते हैं । इस आधार पर व्यक्ति नैतिक बनना पसन्द ही नहीं करता । नैतिकता का आधार बनता है आश्रव और बंध । इसका अर्थ है—आज आदमी जो आचरण कर रहा है, उसके परिणाम का उसे पता नहीं है किंतु जिस दिन वह विपाक में आएगा, हो सकता है कि मनुष्य उस समय मनुष्य ही न रहे । यह है कर्म और बंध का सिद्धांत ।

### चतुष्कोण

जीवन का एक पहलू है बंध । हम बंधे हुए हैं और बांधने का जो चतुष्कोण है, वह है—आश्रव, बंध, पुण्य और

पाप । जीवन का दूसरा पहलू भी है । मनोविज्ञान में चित्त और मन—ये दो तत्त्व माने गए हैं । हम इससे भी आगे चलें, इसमें एक चीज जोड़ दें—आत्मा । यूंग ने चित्त को आधार माना इसलिए आत्मा जैसा तत्त्व उसके लिए उपयोगी नहीं बना । यूंग ने मन को भी आधार के रूप में स्वीकार नहीं किया । फ्रायड ने मन को आधार माना । उसके लिए चित्त और आत्मा—दोनों का कोई मूल्य नहीं था । किन्तु एक दार्शनिक व्यक्ति मन और चित्त—दोनों से आगे चलेगा, आत्मा को आधार मानेगा ।

### संघर्ष का उद्देश्य

हम आत्मा को भी मानते हैं, चित्त और मन को भी मानते हैं । मन और चित्त से परे है आत्मा । मन और चित्त—इन दोनों को चेतन और अचेतन—दो संभाग मानें, हम कर्म-शरीर तक पहुंच जाएंगे । कर्म-शरीर बांधने वाला है, वह स्वतन्त्रता नहीं देता । स्वतन्त्रता का मूल्यांकन करने के लिए आत्मा के पास जाना जरूरी है । आत्मा कर्म-शरीर से परे है और वह बंधन को तोड़ने के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहा है । उमे पारिभाषिक शब्दों में कहा जाता है—पारिणामिक भाव । संघर्ष का उद्देश्य है—अस्तित्व प्रकट हो, सारे बंधन टूट जाएं । उस संघर्ष में से जो आता है, वह है हमारी स्वतन्त्रता । आत्मा हमारी स्वतन्त्रता को बनाए हुए है और बंधन हमारी स्वतन्त्रता को बाधित बनाए हुए है । यह स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का संघर्ष निरन्तर चल रहा है और उसके बीच चल रहा है हमारा व्यक्तित्व, जो स्वतंत्र है किन्तु बंधा हुआ भी है ।

## बोया बीज बबूल का, आम कहां से होय ?

प्रत्येक आदमी सुख, स्वास्थ्य और दीर्घ आयुष्य चाहता है। एक शब्द में कहा जाए तो वह पुण्य या उसका फल चाहता है। अप्रिय और प्रतिकूल स्थिति कोई नहीं चाहता। किन्तु जो चाहता है, वह मिल नहीं पाता। यदि आज चिन्तामणि, कामधेनु, कामकुंभ जैसी बात सामने होती, हर चाह पूरी होती तो शायद दुनिया दूसरे प्रकार की होती। आदमां स्वर्ग को धरती पर लाने की बात नहीं सोचता। पर ऐसा हो नहीं रहा है। ऐसा क्यों नहीं हो रहा है, इसकी सबसे अधिक व्याख्या कर्मवाद ने की। इस संदर्भ में शरीरशास्त्र और मनोविज्ञान की पहुंच बहुत छोटी होती है। वे परिस्थिति, परिवेश और आनुवंशिकता के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं। आनुवंशिकता या परिस्थिति से जो मिलता है, वैसा ही व्यक्ति को प्राप्त होता है। कर्मवाद में आनुवंशिकता को मानने में कोई कठिनाई नहीं है किन्तु उसमें उससे आगे की एक सचाई स्वीकृत है और वह है अतीत का अर्जन।

### जीवन की व्याख्या : आनुवंशिकता का सिद्धान्त

अतीत में हमने जो अर्जित किया है, वह हमें प्रभावित करता है। वही यह भेदरेखा खींच रहा है कि सुख होगा या दुःख ? प्रतिष्ठा मिलेगी या अप्रतिष्ठा ? काम निर्विघ्न होगा या नहीं ? ये सारे प्रश्न अतीत के अर्जन से जुड़े हुए हैं। हमारे भीतर कैसा भंडार भरा है, इसे समझना होगा। इस कारण को



पकड़े बिना जीवन की सही व्याख्या नहीं हो सकती। आज इस कारण को न पकड़ पाने के कारण जीवन की बहुत सारी व्याख्याएं गलत होती जा रही हैं। हम यह मान लें—व्यक्ति आनुवंशिक होता है, उसके जीवन को आनुवंशिक प्रभाव प्रभावित करते हैं, परिस्थिति और परिवेश भी प्रभावित करते हैं। हो सकता है, कुछ बीमारियों के संदर्भ में यह तर्क संगत प्रतीत हो किन्तु आचरण के प्रसंग में, जहां सुख और संवेदन का प्रश्न है यदि आनुवंशिकता का सिद्धान्त काम करेगा तो आचरण का सारा सिद्धान्त समाप्त हो जाएगा, आचरण शास्त्र की मर्यादाएं, नैतिकता की सीमाएं समाप्त हो जाएंगी।

### मूल है उपादान

आनुवंशिकता का सिद्धान्त जीवन के एक पहलू का स्पर्श करता है। जहां शरीर रचना, स्वास्थ्य अथवा कुछ मानसिकता का प्रश्न है वहां इसे कारण माना जा सकता है किन्तु जीवन की जो विविधता है, नानात्व है, उसकी व्याख्या आनुवंशिकता के आधार पर नहीं की जा सकती। परिस्थिति और परिवेश भी व्यक्ति को प्रभावित करते हैं किन्तु वे उपादान नहीं बन सकते। चाक और डंडा घड़ा बनने में निमित्त बन सकते हैं पर वे घड़ा नहीं बन सकते। उपादान ही नहीं है तो कोरा परिवेश या परिस्थिति क्या कर पाएगी? हम इनको स्वीकार करते हुए भी उपादान की बात पर आएँ। मूल बात है—उपादान।

### क्रिया : प्रतिक्रिया

दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—कृत और प्रतिकृत, क्रिया और प्रतिक्रिया। व्यक्ति क्रिया की प्रतिक्रिया करता है। जब तक वह

प्रतिक्रिया का जीवन जीता है, तब तक उसे उसका परिणाम भुगतना होता है। इसी आधार पर हम आचरण की मर्यादाएं निर्धारित कर सकते हैं। यदि प्रतिष्ठा, सुख, स्वास्थ्य और दीर्घ आयुष्य की आकांक्षा है तो जीवन का व्यवहार उसके अनुकूल होना चाहिए, प्रतिकूल नहीं। एक आदमी में आत्म-प्रशंसा और पर-निन्दा करने की आदत है। नीतिशास्त्र के अनुसार यह महान् दोष माना जाता है। इसका परिणाम है—अप्रतिष्ठा का अर्जन। कर्मशास्त्र की भाषा में इसका परिणाम है—नीचगोत्र का अर्जन। जब उसका विपाक आता है, व्यक्ति को सम्मान नहीं मिलता। इसका कारण है—व्यक्ति ने आत्म-प्रशंसा और पर-निन्दा करते-करते कुछ ऐसा अर्जन किया है, जिसका कुछ ऐसा परिपाक आया है कि सब कुछ मिलने पर भी प्रतिष्ठा उसके भाग्य में नहीं होती।

### नीच गोत्र का अर्जन : कारण

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो दूसरों के गुणों का अच्छा-दान करते हैं, उन्हें छिपाना चाहते हैं और अवगुणों को खुला बांटना चाहते हैं। ऐसा करने वाला व्यक्ति भी नीचगोत्र कर्म का अर्जन करता है, अप्रतिष्ठा का बीज बोता है। व्यक्ति बीज बोता है—अप्रतिष्ठा का और चाहता है—प्रतिष्ठा, यह कैसे संभव है ? राजस्थानी कहावत है—बोया बीज बबूला का, आम कहां से होय ? बबूल का बीज बोने से आम कैसे पैदा होगा ? जब सुख और प्रतिष्ठा का बीज ही नहीं बोया है तो वह कहां से आएगा ? आदमी की आदत है दूसरों की अच्छाइयों को ढकना और बुराइयों को प्रकाशित करना। इसका परिणाम है—नीचगोत्र का अर्जन या अप्रतिष्ठा की उपलब्धि। इसलिए वह प्रतिष्ठा चाहते हुए भी अप्रतिष्ठा को पा लेता है।

### कर्म का प्रभाव : निदर्शन

हम दूसरा उदाहरण लें। दो व्यक्तियों ने भागीदारी में व्यापार किया। लाभ की स्थिति में भी घाटा लगने लगा। घाटा निरन्तर बढ़ता चला गया। एक भागीदार ने सोचा— मुझे हट जाना चाहिए। उसने अपनी भागीदारी समाप्त कर दी। दुकान केवल एक व्यक्ति के हिस्से में रह गई। वह मालामाल हो गया। इसका कारण क्या है? वही दुकान है, वही परिस्थिति है किन्तु घाटा ही नहीं मिटा, धन बरस पड़ा। इसका हेतु क्या है? अतीत में जाने पर पता चलेगा— अंतराय कर्म के बंध के कारण ऐसा हुआ। एक व्यक्ति ने अंतराय कर्म का बंध किया, दूसरों के कार्य में बाधाएं ही बाधाएं डालीं। वे परिपक्व होकर उसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्तुत हो गईं। व्यक्ति को लगता है— जो भी करता हूं, उसमें विघ्न ही विघ्न आते हैं, हर कार्य उलटा होता है। यदि यह बात समझ में आए तो आदमी वर्तमान जीवन में किसी के सामने विघ्न और बाधाएं उपस्थित करना नहीं चाहेगा, उसका आचार बदल जाएगा।

### प्रश्न आचार की अवधारणा का

हमारे वर्तमान आचरण और व्यवहार के पीछे एक शृंखला है। उसे समझने पर ही आचार का निर्धारण संभव बन पाएगा। आचारशास्त्र के निर्धारण में अतीत और वर्तमान—दोनों की अनुभूतियों को एक साथ संयोजित किया जाए तभी आचार की सम्यक् व्याख्या हो सकती है। हमारा आचार कैसा होना चाहिए, उसकी अवधारणा केवल वर्तमान के आधार पर नहीं हो सकती। वर्तमान में व्यक्ति को आत्म-प्रशंसा और पर-निंदा करना अच्छा लगता है, किन्तु उसका परिणाम क्या होगा? इस पर यदि विचार करें तो न आत्म-प्रशंसा अच्छी

लगेगी, न पर-निन्दा अच्छी लगेगी। व्यक्ति सोचेगा, जो भी करता हूं, इसका अर्थ है—बीज बोता हूं। उसकी जो फसल आएगी, उसे काटना होगा। इस बात को जो बराबर ध्यान में रखता है, उस आदमी की स्थिति बदल जाती है।

### असातवेदनीय का परिणाम

कहा गया—नव तत्त्व का जो ज्ञान है, वह सम्यक् दर्शन है। प्रश्न है—ऐसा क्यों कहा गया? जो नव तत्त्व को जान लेता है उसका दर्शन सम्यक् बन जाता है, यह किस दृष्टि से कहा गया? जब व्यक्ति आश्रव और बंध की स्थिति को जान लेता है, पुण्य और पाप की स्थिति को जान लेता है, तब उसका दृष्टिकोण अपने आप समीचीन बन जाता है। वह मिथ्या आचरण नहीं कर सकता। मिथ्या दृष्टिकोण इसलिए है कि व्यक्ति आश्रव, बंध, पुण्य और पाप की मर्यादा ठीक से नहीं जानता। एक आदमी ने कहा—मेरे पास मकान है, धन है, पुत्र है, सुशील पत्नी है, सब कुछ है, फिर भी मैं दुःखी हूं। कभी-कभी मन में आत्महत्या का विचार भी उठ जाता है। इसकी क्या व्याख्या करेंगे? इसका कारण है—सब कुछ है पर सात-वेदनीय कर्म का उदय नहीं है। इसका अर्थ है—असातवेदनीय का प्रबल उदय है, सुखद और अनुकूल संवेदना का उदय नहीं है, विपाक नहीं है। एक वैज्ञानिक आत्महत्या कर लेता है, एक धनपति सेठ आत्महत्या कर लेता है क्योंकि उसका मन दुःखी होता है। व्यक्ति दुःखी क्यों होता है? हम इस पर भी विचार करें। उमास्वाति ने बहुत सुन्दर कारण बतलाया—जो व्यक्ति दूसरों को दुःखी बनाता है, शोक संतप्त करता है, उसके असातवेदनीय कर्म का बंध होता है। जब असातवेदनीय कर्म

का विपाक होता है तब सब कुछ मिलने पर भी चैन नहीं मिलता ।

### सातवेदनीय : अनुकंपा का भाव

एक व्यक्ति जिसमें अनुकंपा का भाव है, वह सबको आत्मवत् समझता है, किसी को सताना नहीं चाहता, दूसरों को सताने में प्रकंपन होता है । वह सोचता है—दूसरों को नहीं, अपने आपको सता रहा हूँ ।

जब यह अनुकंपा का भाव जागता है तब सातवेदनीय कर्म का बंध होता है । जब सातवेदनीय कर्म का विपाक होता है, कुछ न होने पर भी आदमी सदा सुखी रहता है । हमने ऐसे लोगों को देखा है, जिनके पास सुख का कोई साधन नहीं है किन्तु वे इतनी मस्ती और आनंद में डूबे रहते हैं कि उन्हें देखकर किसी भी व्यक्ति को ईर्ष्या हो जाए । उनकी प्रसन्नता का कारण है—सातवेदनीय कर्म का उदय । धन मिल जाना ही पुण्य का उदय नहीं है । मैंने बड़े-बड़े धनपतियों को अपनी आंखों के सामने रोते हुए देखा है । उनके दुःख-पूर्ण रुदन को देखते ही दया आ जाए । सुखी होने का संबंध है सातवेदनीय कर्म से और उस सुख का परिपाक होता है अनुकंपा का जीवन जीने से । जो व्यक्ति क्रूरता का जीवन जीता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता । आज सामाजिक जीवन में मनुष्यों के प्रति, पशुओं के प्रति भयंकर क्रूरता है । वर्तमान युग में मानसिक तनाव की समस्या प्रबल बन रही है । अनुकंपा कम हो और क्रूरता ज्यादा हो तो मानसिक तनाव क्यों नहीं होगा ?

### दृष्ट-जन्म वेदनीय : अदृष्ट-जन्म वेदनीय

वेदनीय कर्म का विपाक दो प्रकार से होता है । कुछ कर्म दृष्ट-जन्म वेदनीय होते हैं और कुछ कर्म अदृष्ट-जन्म

वेदनीय होते हैं। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका इस दृष्ट-जीवन, वर्तमान जीवन में ही परिपाक आ जाता है। ऐसा लगता है—मानसिक तनाव या मानसिक बीमारियां दृष्ट-जन्म वेदनीय का परिपाक हैं और ये—मानवीय क्रूरता के कारण बढ़ती चली जा रही हैं। ये दुःख और समस्याएं केवल आनुवंशिकता या परिस्थिति के साथ जुड़ी हुई नहीं हैं, इसलिए आचार का निर्धारण करते समय मनुष्य के आचरण पर भी ध्यान देना होगा। किस प्रकार का आचरण किस प्रकार की समस्या पैदा करता है और किस प्रकार का भंडार भरता है, यह जानना भी आचार-निर्धारण के लिए अपेक्षित होता है।

### ज्ञान-मीमांसा : कर्म-मीमांसा

एक है स्मृति का भंडार। व्यक्ति ने जो देखा, जैसा उत्प्रेषण हुआ, जैसी धारण बनी, वैसी भावना हो आई। यह है—ज्ञान-मीमांसा का क्षेत्र। इसका संबंध ज्ञान-मीमांसा से है। आचरण का संबंध कर्म-मीमांसा से है। दोनों की मीमांसा अलग-अलग है, दोनों में विरोधाभास है। स्मृति होना भी एक परिणाम है किन्तु इसका संबंध केवल हमारी ज्ञान की प्रक्रिया से है। हमने जैसी धारण की, वैसी स्मृति हो आई। ठीक ऐसा ही क्रम-कर्म के संबंध में होता है। हमने जैसा आचरण किया वही आचरण हमारे भीतर चला गया, रूढ़ हो गया, भंडार में जमा हो गया। उसे कोई उद्दीपन मिला, निमित्त मिला, काल का परिपाक आया, वह प्रकट हो गया।

बंध के हेतुओं का ज्ञान एक धार्मिक के लिए बहुत जरूरी है। इस ज्ञान के द्वारा मनोविज्ञान की बहुत सारी पहेलियों को सुलझाया जा सकता है। इससे जीवन के प्रति जागरूक होने का अवसर मिलता है। जब व्यक्ति को इस बात का बोध होगा

—मेरे प्रत्येक आचरण का परिणाम भी मुझे भुगतना है, तब वह प्रत्येक कर्म के प्रति जागरूक बनेगा ।

### जागरूकता के सूत्र

जीवन में जागरूकता आए, व्यक्ति प्रत्येक आचरण के प्रति जागरूक बने तो वह अकरणीय कार्यों से बच सकता है । प्रत्येक व्यक्ति भोजन करता है । वह सोचे मैं जो खा रहा हूँ, उसका परिणाम क्या होगा ? परिणाम को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है । यदि ज्यादा खाया है तो अजीर्ण होगा, पाचन नहीं होगा, बड़ी परेशानी हो जाएगी, यह अल्पकालिक परिणाम है । दीर्घकाल की दृष्टि से सोचें - मैं जो खा रहा हूँ, उसका शरीर पर क्या प्रभाव होगा ? मुझे जल्दी बूढ़ा बनना पड़ेगा, बीमारियां घेर लेंगी । यदि इसी प्रकार प्रत्येक कार्य की दोनों दृष्टियों से मीमांसा की जाए तो आदमी का आचार अपने आप स्वस्थ बन जाता है । वह ऐसे किसी आचरण को करना नहीं चाहेगा, जिससे अप्रतिष्ठा, दुःख, प्रतिकूल संवेदन, अल्प-आयु को भोगना पड़े । इस जागरूकता को जगाना ही ध्यान का प्रयोजन है । आदमी में मूर्च्छा है, मूढ़ता है, इसलिए वह जानते हुए भी गलत काम कर लेता है । यदि वह जागरूक है तो संभल जाएगा । इसीलिए ध्यान के साथ-साथ जागरूकता के सूत्रों को समझना जरूरी है । आश्रव, बंध, पुण्य और पाप—ये चार ऐसे सूत्र हैं, जिनके द्वारा जागरूकता को बहुत आगे बढ़ाया जा सकता है ।

## क्या दरवाजा बंद है ?

चाबियां कहीं बाहर नहीं हैं, भीतर हैं । एक चाबी हाथ में ली, दरवाजा खुल गया, पर विशेष घर उसी चाबी से बन्द है । एक खुलता है, दूसरा बन्द हो जाता है । दरवाजा खुला और प्रवाह आने लगा । दरवाजा बन्द कर दिया, बाहर से सब कुछ आना बंद हो गया । फिर कोई दुःख नहीं । दुःख भीतर में है ही नहीं, यह सचाई है । जितना दुःख, संताप, भय और वेदना है, वह सब बाहर से आया हुआ है, अपने भीतर नहीं है। कहीं से कुछ मंगाया, कहीं से कुछ मंगाया और इतना भंडार भर लिया कि भीतर में एक कवाड़खाना जैसा बन गया । एक चाबी घुमाई, दरवाजे को बन्द किया तो आयात बन्द हो गया । इसका अर्थ है—नए सिरे से भीतर कुछ भी नहीं आ रहा है । दरवाजे को बन्द करने की प्रक्रिया का नाम है—संवर । दरवाजा बंद हो गया, संवरण हो गया ।

### संवर : संवर की सिद्धि

बहुत लोग ऐसा त्याग करते हैं—मैं आज अमुक चीज नहीं खाऊंगा, अमुक काम नहीं करूंगा । व्यक्ति मानता है—मैंने त्याग कर लिया, मेरे संवर हो गया । यह एक भ्रम चलता है । वस्तुतः जब तक संवर की सिद्धि नहीं होगी तब तक संवर पूरा नहीं होगा । संवर करना और संवर की सिद्धि कर लेना—इन दोनों में बहुत फासला है । एक व्यक्ति यह त्याग कर लेता—है कि मैं अमुक चीज नहीं खाऊंगा किन्तु जब तक उस चीज को



खाने की भीतर में इच्छा बनी हुई है तब संवर की सिद्धि कहां हुई ? संवर यानी संकल्प । संकल्प लेना और संकल्प का साध लेना—इन दोनों में बहुत अन्तर है । जब तक यह अन्तर नहीं मिटता, संवर की सिद्धि नहीं होती ।

### वही है परमात्मा

एक व्यक्ति ने रवीन्द्रनाथ टैगोर से पूछा - आपने गीतांजली में परमात्मा का बहुत सुन्दर और सजीव चित्रण किया है । क्या आपने परमात्मा को जान लिया ? जो लिखा गया है, वह परमात्मा को जानकर लिखा गया है या ऐसे ही लिख दिया गया है ? रवीन्द्रनाथ टैगोर इस प्रश्न को सुनकर अवाक् रह गए । इतना बड़ा प्रश्न ! उनके दिमाग में बिजली कौंध गई । वे प्रश्न का समाधान पाने के लिए निकल पड़े । गांव के बाहर एक पोखर आया । उन्होंने देखा, पोखर का पानी बहुत गन्दा है । पर सूरज की उजली रश्मियां उस पानी में उजली ही दिखाई दे रही हैं । उनका मन ठहर गया । उन्हें उत्तर मिल गया—बस ! यही परमात्मा है । जो गन्दे में भी उजला रह सकता है, वही है परमात्मा ।

### आवश्यक है साधना

टैगोर के मन में एक द्वन्द्व पैदा हुआ, एक तड़प जागी और उन्हें समाधान मिल गया । जब मन में द्वन्द्व ही पैदा नहीं होता है तो साधना कैसे होगी ? और बिना साधना के सिद्धि कैसे होगी ? संवर की साधना के लिए मन में यह तड़प जगनी चाहिए—मैंने संवर किया है, त्याग लिया है, दरवाजा बन्द किया है पर वह टिकेगा कैसे ? हवा का एक झोंका आएगा, दरवाजा खुल जाएगा । दरवाजा बन्द किया है, संवर किया है

तो उसकी सिद्धि के लिए साधना करनी होगी । बहुत आवश्यक है साधना करना । संवर की साधना के कुछ उपाय हैं । उन उपायों को काम में लिए बिना संवर सिद्ध नहीं होता । आचार्य उमास्वाति ने संवर की साधना के कुछ उपाय बतलाए हैं । वे ये हैं—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-विजय और चारित्र ।

### कायगुप्ति

संवर की साधना का सबसे पहला उपाय है गुप्ति । गुप्तियां तीन हैं—काय-गुप्ति, वाक्-गुप्ति और मनो-गुप्ति । शरीर, वाणी और मन—इनका गोपन करना, संरक्षण करना एक महत्त्वपूर्ण उपाय है । आश्रव अनेक हैं, दरवाजे अनेक हैं । एक दरवाजा बन्द करने से सारे दरवाजे बन्द नहीं होते । सबसे बड़ा दरवाजा है शरीर का । इसमें बाहर से बहुत कुछ आ रहा है । हम इसे बन्द करें ताकि इसमें बाहर से ऐसा कुछ न आए, जो हमें दुःख दे, सताए । काय-गुप्ति है—कायोत्सर्ग, शरीर को स्थिर बना लेना । शरीर की स्थिरता सधी, काय-गुप्ति हो गई । जो व्यक्ति कायोत्सर्ग नहीं करता, काया की गुप्ति नहीं करता और संवर भी चाहता है, उसका संवर कभी सिद्ध नहीं होता । उसका संकल्प मात्र संकल्प ही रह जाता है । संकल्प की परिपक्वता के लिए, संवर की सिद्धि के लिए आंच देनी होगी । वह आंच काय-गुप्ति के द्वारा सम्भव है ।

### वाग्गुप्ति : मौन

सबसे पहली बात है स्थिरता । साधना का प्रथम सूत्र है स्थिरता, चंचलता को कम करना । चंचलता कम होगी तो

दरवाजा अपने आप बन्द हो जाएगा। हम शरीर की चंचलता को कम करें, वाणी की चंचलता को कम करें। बोलना आवश्यक है। बोले बिना काम नहीं चलता, पर अनावश्यक न बोलें। यदि हम आवश्यकतावश बोलें, तो दूसरों को संताप देने वाली वाणी न बोलें, हिंसा करने वाली वाणी न बोलें। यदि ये सारे निरोध होते चले जाएंगे तो वाणी की स्थिरता सधती चली जाएगी वाक् पर नियन्त्रण होता चला जाएगा। वाणी का निरोध होता है तो एक दरवाजा बन्द हो जाता है। वाक्-निरोध के लिए भी साधना जरूरी है। हम आधा घण्टा, एक घण्टा काय-स्थिरता की साधना करें तो साथ-साथ वाणी का निरोध भी करें। प्रश्न है—वाणी का निरोध कब करें? कुछ लोग नींद के समय बोलने का त्याग कर लेते हैं। वस्तुतः इससे वाक्गुप्ति की सिद्धि नहीं होती। मौन तब करना चाहिए जब बोलने का समय हो। इस स्थिति में ही मौन को सार्थकता हो सकती है।

### मनोगुप्ति : मन की सिद्धि

संवर की सिद्धि का एक उपाय है—मनोगुप्ति, मन की सिद्धि। मन न जाने बाहर से कितना कूड़ा-करकट ले आता है। उसके निरोध की तीन स्थितियां हैं। पहली स्थिति है—अकुशल का निरोध, मन अकुशल न हो। ऐसी साधना की जाए, जिससे मन में कोई अकुशल—अशुभ विचार न आए। दूसरी स्थिति है—कुशल का संकल्प, कुशल मन का प्रवर्तन। मन पवित्र ही पवित्र रहे। तीसरी स्थिति है—कुशल मन का निरोध। कोई विचार नहीं, चिन्तन नहीं, निर्विचार अवस्था, अमन अवस्था।

जब शरीर की सिद्धि, वाणी की सिद्धि और मन का

सिद्धि घटित होती है तब संवर की सिद्धि होती है ।

### अनुप्रेक्षा

संवर की सिद्धि का एक उपाय है—अनुप्रेक्षा । प्रेक्षा के साथ जुड़ा हुआ है अनुप्रेक्षा का तत्त्व । यह संवर की साधना का बहुत सुन्दर उपाय है । हम पदार्थ के साथ जीते हैं, पदार्थ के साथ रहते हैं । हम परिवार के बीच जीते हैं, रहते हैं, मकान, कपड़े, खाद्य सामग्री आदि का हम उपयोग करते हैं, उनसे हमारा एक लगाव होता है । वह लगाव दुःख का कारण बनता है ।

पदार्थ दुःख नहीं देता । दुःख देता है लगाव । आज एक घटना घटती है । कालांतर में वह सामान्य बन जाती है, पर उसका शोक मन में बैठ जाता है । घटना से जो आघात लगा है, वह आघात रह जाता है । आघात क्यों लगता है ? आघात लगता है लगाव के कारण । यदि उस व्यक्ति या पदार्थ के साथ लगाव न हो तो कोई आघात नहीं लगेगा । इस आघात से, लगाव से बचने की साधना का नाम है अनुप्रेक्षा । हम जैसे-जैसे अनुप्रेक्षा का अभ्यास करेंगे, वैसे-वैसे संवर की चेतना जागृत होती चली जाएगी ।

### अनित्य : अनुप्रेक्षा

आश्रव का मतलब है—आत्मा की वह परिणाम धारा जो कर्मों को आकर्षित करती है । संवर का मतलब है—आत्मा की वह परिणाम धारा, जो कर्म के आगमन को एकदम रोक दे, दरवाजा बंद कर दे । हम केवल उच्चारण मात्र से दरवाजा बन्द कैसे कर सकते हैं ? एक व्यक्ति कहता है—मुझे शोक करने का त्याग है, दुःख करने का त्याग है । क्या इस संकल्प के उच्चारण मात्र से शोक और दुःख का भाव समाप्त हो

जाएगा ? संकल्प मात्र से यह स्थिति बनती नहीं है । जब संकल्प सिद्ध होता है तभी वांछित परिणाम मिल सकता है ।

अनुप्रेक्षा संकल्प की सिद्धि में, संवर की सिद्धि में साधन-भूत बनती है । संकल्प-सिद्धि में इसका योग महत्वपूर्ण है । हम बार-बार यह अनुप्रेक्षा करें—सब संयोग अनित्य हैं । जिस पदार्थ का योग मिला है, वह अनित्य है । यह अभ्यास जितना परिपक्व होगा, उतना ही पदार्थ के प्रति लगाव कम होता चला जाएगा । जैसे-जैसे आसक्ति कम होगी, अनासक्ति सधेगी वैसे-वैसे संवर भी सधता चला जाएगा ।

### सुरक्षा कवच

दो भाई आपस में धन का बंटवारा कर रहे थे । सब कुछ बराबर बांट लिया किन्तु दो चोर्जे बच गईं । एक थी हीरे की अंगूठी और एक थी सामान्य अंगूठी, जिस पर लिखा था प्रजा की अंगूठी । बड़े भाई ने कहा—मैं हीरे की अंगूठी लूंगा । छोटे भाई ने बड़े भाई का आग्रह स्वीकार कर लिया । उसने सामान्य अंगूठी में सन्तोष का अनुभव किया । बड़ा भाई हीरे की अंगूठी को पाकर उन्मादी बन गया, व्यसनों में फंस गया, बरबाद हो गया । छोटा भाई प्रजा की अंगूठी को देखता रहा, उसको अनुप्रेक्षा करता रहा । उसने उन्माद को पनपने का अवसर ही नहीं दिया । उसके सामने यह सूत्र था—जो कुछ मिला है, वह सब अनित्य है । यह अनित्यता का सूत्र उसका सुरक्षा-कवच बन गया ।

### एकत्व अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा का एक प्रकार है—एकत्व अनुप्रेक्षा । व्यक्ति सोचे—मैं अकेला हूँ, अकेला आया हूँ, मुझे अकेले जाना है ।

यह सचाई है—अपना किया हुआ स्वयं मुझे ही भोगना है । कर्म करने में भी अकेला है व्यक्ति और उसका फल भोगने में भी अकेला है व्यक्ति । अपना किया हुआ कर्म मुझे ही भोगना होगा—यह भावना जितनी प्रबल बनेगी, यह संस्कार जितनी पुष्ट होगा, उतना ही संवर सिद्ध होगा ।

एकत्व की अनुप्रेक्षा से आसक्ति की तीव्रता टूटती है, स्वजन के प्रति होने वाला स्नेह एवं अनुराग बन्द होता है और परजन के प्रति जो द्वेष है, वह भी बन्द हो जाता है । सबसे बड़ी समस्या है—परजन के प्रति विराग और स्वजन के प्रति अनुराग । भ्रष्टाचार के पीछे सबसे बड़ा कारण है—स्वजन के प्रति अनुराग की भावना और परजन के प्रति विराग की भावना ।

व्यक्ति सोचता है—मेरा परिवार सुखी रहे, मेरे रिश्तेदार सुखी रहें, समृद्ध बनें, मेरे आदमी निरंतर आगे बढ़ें । यह भावना है स्वजन के प्रति अनुराग की । इसके कारण ही व्यक्ति दूसरों को सताता है, दूसरों का शोषण करता है । एकत्व की अनुभूति से स्वजन के प्रति अनुराग भी प्रतिबन्धित होता है और परजन के प्रति अनुराग भी प्रतिबन्धित हो जाता है ।

### अन्यत्व अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा का एक प्रकार है—अन्यत्व अनुप्रेक्षा । शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है—यह है अन्यत्व अनुप्रेक्षा । यह अनुप्रेक्षा जितनी आगे बढ़ती है, व्यक्ति उतना ही शरीर की प्रतिबद्धता से मुक्त होता है । जब तक शरीर का ममत्व रहता है तब तक संवर की साधना सिद्धि तक नहीं पहुँच पाती । शरीर को प्रतिबद्धता से मुक्त होने का एक उपाय है—काय-गुप्ति और दूसरा उपाय है—शरीर के प्रति निर्मोही होना ।

सारी मूर्च्छाएं शरीर से ही पैदा होती हैं। जैसे-जैसे अन्यत्व अनुप्रेक्षा पुष्ट बनती है शरीर की प्रतिबद्धता कम होती चली जाती है, संवर-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त बन जाता है।

### संकल्प-सिद्धि का परिणाम

कहा जाता है पुजारी की साधना नहीं होगी तो मंदिर का दरवाजा कैसे खुलेगा ? यह उदाहरण को भाषा है। जब तक गुप्तियों की आराधना नहीं होगी, तब तक संवर की आराधना कैसे होगी ? केवल उच्चारण मात्र से कुछ हो जाए, यह सम्भव नहीं है। साधना के बिना सिद्धि नहीं होती और सिद्धि के बिना कोई वांछित लाभ नहीं मिल पाता। जब साधना सधती है तब 'त्याग है' — इस कथन मात्र से दरवाजा बन्द हो जाएगा। संकल्प सिद्धि होने पर चेतना की ऐसी स्थिति बन जाती है कि संकल्प लेते ही आश्रव का दरवाजा बन्द हो जाता है। जितनी समस्याएं, जितने क्लेश हमारे भीतर पैदा होते हैं, हम उन सबके दरवाजे बन्द कर सकते हैं।

### कल्याण के पथ

दरवाजे को बन्द करने का उपाय है—संवर की सिद्धि। साधना के द्वारा उस चाबी को घुमाना है जो दरवाजे खोले नहीं, बन्द कर दे। उस चाबी को घुमाने से पहले साधनों का अभ्यास और उसकी सिद्धि जरूरी है। अभ्यास-साध्य है संवर की सिद्धि। यदि संवर सिद्ध होगा तो हम अपने आपको बहुत सारे कष्टों से बचा लेंगे। इसके सिवाय कोई उपाय हा नहीं है। यही उपाय है दुःख मुक्ति का, दरवाजे को बन्द करने का। हम इस उपाय के प्रति सजग बनें, कल्याण का पथ उपलब्ध हो जाएगा।

## मनोवृत्ति को बदला जा सकता है

हम श्वास लेते हैं, श्वास का ग्रहण होता है। योग की भाषा में इसे पूरक कहा जाता है। हम श्वास निकालते हैं। योग की भाषा में यह रेचन है। हम श्वास को रोकते भी हैं। योग की भाषा में यह कुम्भक या श्वास-संयम है। स्वास्थ्य के लिए रेचन और कुम्भक—दोनों आवश्यक हैं जो बीमारी है, उसका शोधन कर दिया जाए, रेचन कर दिया जाए। उसके बाद उसका निरोध कर दिया जाए ताकि बीमारी के तत्त्व पुनः भीतर प्रविष्ट न हों। साधना की भी यही प्रक्रिया है। आध्यात्मिक स्वास्थ्य या मानसिक स्वास्थ्य की प्रक्रिया भी यही है।

### शोधन और निरोध

आध्यात्मिक स्वास्थ्य का सूत्र है—शोधन करें, रेचन करें और निरोध कर दें। शोधन और निरोध का मार्ग बतलाया गया—तपसा निर्जरा च—तपस्या और निर्जरा के द्वारा शोधन करें, निरोध करें। संवर का काम है रोक देना, निरोध कर देना। तपस्या का कार्य उभयमुखी है। उसका काम शोधन करना भी है, निरोध करना भी है। व्यक्ति उपवास के द्वारा आश्रव का निरोध भी करता है। उपवास है—खाने की प्रवृत्ति का निरोध किंतु उसके साथ-साथ व्यक्ति शुभ प्रवृत्ति करता है, उससे निर्जरा होती है, कर्म का शोधन होता है। तपस्या से ये दोनों काम होते हैं। इन दोनों के बिना



विशुद्धि नहीं हो सकती। रेचन करो, इसका अर्थ है—भीतर जो खराबी है, उसे निकालो। निरोध करो, इसका अर्थ है—पुनः खराबी पैदा न हो, इसकी व्यवस्था करो। रेचन है—निर्जरा। निरोध है संवर। सारी आध्यात्मिक प्रक्रिया इन दो शब्दों में समाहित है—संवर और निर्जरा, रोको और विशुद्धि करो।

### उदासी का रहस्य

आयुर्वेद के एक महान् आचार्य थे। उनका नाम था आचार्य पुनर्वसु। उनके पट्टशिष्य थे—अग्निवेश। एक दिन दोनों भ्रमण कर रहे थे। चलते-चलते आचार्य पुनर्वसु ने आकाश को निहारा। उनके कदम रुक गए, चेहरे पर उदासी छा गई।

अग्निवेश अचानक आए इस परिवर्तन से अवाक् रह गया। उसने पूछा—गुरुदेव! यकायक यह उदासी क्यों छा गई?

पुनर्वसु बोले—मैंने चरक को संहिता का प्रणयन किया। मानव समाज को स्वस्थ रखने के लिए जितना करना चाहिए था उतना मैंने कर दिया, परन्तु आज लगता है—मेरा काम पूरा नहीं हुआ।

गुरुदेव! यह कैसे कह रहे हैं आप?

वत्स! मैंने आकाश-दर्शन से यह जान लिया है कि भविष्य में क्या होने वाला है।

गुरुदेव! भविष्य में क्या होगा?

वत्स! मैंने भविष्य में होने वाली तीन स्थितियां देखी हैं। पहली बात है—प्रकृति-विपर्यय। प्रकृति के जो पांच भूत हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये पांचों प्रकंपित हो रहे हैं। आज की भाषा में हम इसे पर्यावरण का प्रदूषण कह सकते हैं। आदमी कितनी ही दवा ले, यह प्रकृति-विपर्यय,

पर्यावरण-प्रदूषण उसे फिर बीमार बना देगा। दूसरी बात है—मनुष्य का मन अधर्म में रमण करेगा। हिंसा, भूठ, चोरी, क्रूरता आदि बुरी प्रवृत्तियों में वह अधिक लिप्त रहेगा, मानसिक तनाव बढ़ेगा। तीसरी बात है—बुद्धि का विपर्यय। आदमी नित्य को अनित्य मान लेगा, अनित्य को नित्य मान लेगा। बुद्धि का ऐसा विपर्यय होगा कि आदमी शाश्वत और अशाश्वत में भेद नहीं कर पाएगा।

आचार्य पुनर्वसु ने कहा—वत्स ! ऐसा लगता है—यह त्रिदोष पर अवलंबित चिकित्सा-शास्त्र और औषधियां काम नहीं करेंगी। हम अब इसे इतना ही रहने दें और एक नया शास्त्र बनाएं, जिससे मनुष्य के मन और बुद्धि की तथा प्रकृति की स्थिति भी ठीक हो सके।

### दोनों जरूरी हैं

स्वास्थ्य के लिए दोनों बातें जरूरी हैं—मन का निरोध और शोधन। दवा से शोधन हो सकता है पर निरोध के लिए अपनी आंतरिक शक्ति, प्राणशक्ति ज्यादा करागर होती है। केवल निरोध हो निरोध ही या केवल शोधन ही शोधन हो तो हस्ति-स्नानवत् कार्य हो जाएगा। निरोध और शोधन—दोनों साथ-साथ चलें तभी पूरी प्रक्रिया बनती है। एक ओर निरोध की प्रक्रिया को अपनाएं तो दूसरी ओर शोधन की प्रक्रिया को भी अपनाएं। शोधन के लिए तपस्या बहुत आवश्यक है। हम निर्जरा और तपस्या को दो भी कह सकते हैं। वे दोनों एक भी हैं। तपस्या के द्वारा निर्जरा होती है इसलिए निर्जरा को ही पाप मान लिया गया। वास्तव में मानना चाहिए था—संवर और तपस्या। किन्तु तपस्या के स्थान पर निर्जरा को मान

लिया गया। तपस्या संवर और निरोध का भी उपाय है, शोधन का भी उपाय है।

**ध्यान : संवर भी, निर्जरा भी**

ध्यान एक तपस्या है। ध्यान करना संवर भी है, निर्जरा भी है। एक व्यक्ति ध्यान करता है तो वह अपने शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करना चाहता है। हम यह मानकर चलें, पूर्ण निरोध करना हमारे वश की बात नहीं है। वह अपने आप होता है। जितनी आंतरिक शुद्धि होगी उतना ही निरोध होगा। संवर का आंतरिक शुद्धि से बहुत संबंध है। निरोध की प्रक्रिया हमारी आंतरिक प्रक्रिया है। तोड़ने की प्रक्रिया प्रयत्न के साथ चलती है। हम इस भाषा में कह सकते हैं—आंतरिक शुद्धि है निरोध, बाहरी अच्छी प्रवृत्ति है तपस्या या निर्जरा। हम जितनी तपस्या करते हैं उतनी ही निर्जरा होती चली जाती है।

**परम पुरुषार्थ है निवृत्ति**

ध्यान एक निवृत्ति है। हम ध्यान में मन को एकाग्र करने का प्रयास करेंगे तो गर्मी बहुत बढ़ जाएगी। मन को चलाने में जितना पुरुषार्थ करना पड़ता है, मन को एकाग्र करने में उससे अधिक पुरुषार्थ करना पड़ता है। प्रवृत्ति करना सरल है, निवृत्ति करना बहुत कठिन है। ध्यान के लिए बहुत कठोर श्रम चाहिए। कमजोर आदमी ध्यान नहीं कर सकता जिसका मन और प्राणशक्ति दुर्बल है, वह ध्यान कैसे कर पाएगा? ध्यान में प्रबल पुरुषार्थ चाहिए। वस्तुतः निवृत्ति का अर्थ पुरुषार्थहीनता नहीं है। कहना चाहिए—प्रवृत्ति है

पुरुषार्थ और निवृत्ति है परम-पुरुषार्थ। निवृत्ति में अधिक पुरुषार्थ करना होता है, इसीलिए ध्यान से गर्मी बढ़ जाती है, उषमा बढ़ जाती है, वजन घट जाता है। प्रबल पुरुषार्थ है—मन को एकाग्र करना, मन की चंचलता का निरोध करना। ध्यान में मन की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध किया, संवर हो गया और मन की शुभ प्रवृत्ति की निर्जरा हो गई। ध्यान के द्वारा शोधन और निरोध—दोनों होते हैं। केवल ध्यान ही नहीं, तपस्या के जितने प्रकार बतलाए गए हैं, उन सबसे निरोध भी होता है, संवर भी होता है, निर्जरा भी होती है।

### व्यापक सिद्धांत

बहुत व्यापक है तपस्या का सिद्धांत। उदार दृष्टिकोण से प्रतिपादित हुआ है तपस्या का सिद्धांत। कहा गया—तुम शरीर, वाणी और मन—इन तीनों का प्रवर्तन करो तो ऐसा करो कि तुम्हारा शोधन हो जाए। इसका निवर्तन करो तो ऐसा करो कि तुम्हारा संवरण हो जाए। इस आधार पर हमारी पुरुषार्थ की क्रिया तीन भागों में बंट जाती है। एक प्रवर्तन वह है जो बाहर से गंदगी को खींचता है, बुरे विचारों और बुरे प्रभावों को खींचता है, बुरे कार्यों का आकर्षण करता है। एक प्रवर्तन वह है, जो केवल सत् का आकर्षण करता है, बुराई का आकर्षण नहीं करता। यह दूसरा प्रवर्तन है। तीसरा है निवर्तन। न सत् का और न असत् का ग्रहण। सत्-असत्—दोनों का निवर्तन। ध्यान करने वाला व्यक्ति असत् का निरोध करता है, वह संवर है। वह सत् का प्रवर्तन करता है, यह तपस्या है। उसके बाद वह बिलकुल निवृत्ति में चला जाता है, सत् और असत्—दोनों का निरोध कर देता है।

हमारी प्रवृत्ति त्रि-आयामी है। इस प्रवृत्ति-चक्र के साथ

हमें चलना है। प्रश्न है—हमारा क्या काम होना चाहिए ? हमारा दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए ? हम यह ध्यान दें—चौबीस घंटे में असत् का प्रवर्तन कितना होता है ? सत् का प्रवर्तन कितना होता है ? निवर्तन कितना होता है ? हम ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे असत् का निवर्तन कर सकें, इसके साथ-साथ सत् का भी निवर्तन कर सकें। यदि हम असत् के निवर्तन और सत् के प्रवर्तन का ठीक मूल्यांकन कर पाएं तो जीवन-क्रम बदल जाए, जीवन की चर्या बदल जाए।

### जीवन-चर्या का दर्शन

तपस्या की प्रक्रिया जीवन-चर्या का महत्त्वपूर्ण दर्शन है। भोजन, चलना-फिरना, उठना-बैठना आदि हमारे जीवन की अनिवार्यता है। इन्द्रियों से काम लेना भी अनिवार्यता है। हमारे जीवन की ये तीन मुख्य प्रवृत्तियां बनी हुई हैं—आहार, गतिक्रिया और इन्द्रिय-प्रवृत्ति। इन तीनों का निवर्तन करना या इन तीनों का सम्यक् प्रवर्तन करना तपस्या का पहला पाठ है। आहार के द्वारा एक व्यक्ति अहिंसा की दिशा में भी जा सकता है, हिंसा और अपराध की दिशा में भी जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से यह प्रमाणित हो गया है कि आहार का ठीक विवेक न हो तो वह व्यक्ति को हिंसक भी बना देता है और यदि आहार का ठीक विवेक हो तो वह अहिंसा की भावना को भी जन्म दे देता है। ऐसा ही इन्द्रियों के साथ घटित होता है। वे हमें स्वस्थ भी बना देती हैं, रुग्ण भी बना देती हैं। हम सम्यक् प्रवर्तन या निवर्तन करना सीखें। आंख से काम लेना है तो आंख को मूंदकर काम लेना भी जरूरी है। कान से सुनना है तो उसे बन्द करके सुनना भी जरूरी है।

### साधक तत्त्व

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि तपस्या के सारे प्रकार उदात्त जीवन जीने के लिए आवश्यक हैं। ये सब शोधन और निरोध के साधन हैं। यदि हम इनके प्रति जागरूक बन जाएं तो जीवन की सारी धुरी ठीक घूमने लग जाती है। जागरूकता का साधन है—ध्यान और एकाग्रता।

नव तत्त्वों में संवर और निर्जरा—ये दोनों तत्त्व साधना की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय हैं, महत्त्वपूर्ण हैं। बाधक तत्त्व चार हैं—अजीव, पुण्य, पाप और बंध। ये चारों आध्यात्मिक विकास में बाधक बनते हैं। हम साधना के साधक-तत्त्वों का विमर्श करें।

### प्रक्रिया संवर की

साधना का एक साधक तत्त्व है—संवर। संवर के पांच प्रकार हैं—सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग। सब से पहले चंचलता का निरोध करना है। हम इस भाषा में समझे, स्वतःचालित क्रिया चलती रहे और इच्छाचालित क्रिया को बंद कर दें। इससे आंशिक निरोध हो गया, पूर्ण निरोध नहीं हुआ। किंतु ऐसा करते-करते एक अवस्था आती है, स्वतःचालित और इच्छाचालित—दोनों क्रियाएं रुक जाती हैं। जहां कोई विचार नहीं होता, आलंबन नहीं होता वहां पूर्ण निरोध होता है। पारिभाषिक शब्दावली में कहा जा सकता है—सबसे पहले योग का निरोध करें, योग को रोकने का अभ्यास करें। योग कम होगा तो कषाय कम होता चला जाएगा, अकषाय संवर पुष्ट बनेगा। इससे एक बात स्पष्ट होती है—जितनी हमारी

चंचलता है उतनी ही उत्तेजना है। क्रोध, मान, माया और लोभ - इन सबका प्रकोप होता है चंचलता के कारण। आवेश कम होंगे तो प्रमाद भी कम हो जाएगा। प्रमाद कम होगा तो आकांक्षा कम हो जाएगी, अविरति कम हो जाएगी, व्रत संवर का विकास होने लगेगा। जब यह सब घटित होगा, तब मिथ्या-दर्शन कहां टिकेगा? तत्त्वज्ञान की दृष्टि से प्रथम है सम्यक्त्व और साधना की दृष्टि से प्रथम है योग का निरोध, अयोग संवर। यह संवर की प्रक्रिया है।

### प्रक्रिया शोधन की

शोधन की प्रक्रिया में सबसे पहले आहार-शुद्धि पर ध्यान दें, उसके बाद गति-क्रिया पर ध्यान दें। उसका उपाय हैं - कायक्लेश। काया को साधें। उसके बाद इन्द्रियों को साधें। आयुर्विज्ञान में अब तक इस पर बहुत ध्यान नहीं दिया गया है। इन्द्रियों की क्रिया से भी बीमारियों का गहरा संबंध है। इन्द्रियों की अति चंचलता और लोलुपता बीमारियों को निमन्त्रण देती है। शोधन की प्रक्रिया में इस बात पर ध्यान दिया गया-इन्द्रियां भी नियंत्रित और संतुलित होनी चाहिए। उसके बाद अहंकार पर ध्यान दिया गया। जब तक अहंकार है तब तक अतीत का शोधन नहीं हो सकता, विनम्रता और सेवा-भावना विकसित नहीं हो सकती। इसी क्रम में कहा गया-शोधन करना है तो कुछ नया ज्ञान बढ़ना चाहिए, निर्मलता बढ़नी चाहिए। निर्मलता के साथ एकाग्रता और निर्विकल्पता का अभ्यास भी परिपक्व बनना चाहिए। ऐसी स्थिति बने कि विचार आए ही नहीं। इस शोधन की प्रक्रिया की अंतिम बात है-विसर्जन। व्यक्ति दुनिया से अपने आपको अलग कर ले। वह दुनिया के बीच रहते हुए भी अपने आपको

अकेला बना ले । यह ध्यान की निष्पत्ति है, तपस्या का अंतिम परिणाम है । शोधन का यह एक क्रम है और इस क्रम से मनोवृत्ति को बदला जा सकता है । यह परिवर्तन की प्रक्रिया है । इसका माध्यम है— तपस्या और निर्जरा । इसी माध्यम से हम अपने नए व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं ।



## आत्मा और परमात्मा

अस्तित्व का एक छोर है आत्मा और दूसरा छोर है परमात्मा । एक छोर है—जीव और दूसरा छोर है—मोक्ष । जीव से मोक्ष और आत्मा से परमात्मा । इसके लिए मानव प्रयत्न करता रहा है, साधन करता रहा है । जीव जीवन के साथ चलता है और परमात्मा केवल अस्तित्व के साथ चलता है । जीवन एक अंतहीन शृंखला है, उसके अनन्त रहस्य हैं । हम कितना ही प्रयत्न करें पर जीवन के सारे रहस्य जाने नहीं जा सकते । जैसे-जैसे वैज्ञानिकों ने खोज की, कुछ सचाइयों का पता चला किन्तु उसके अनंत रहस्य फिर भी अनजाने बने हुए हैं । जैसे-जैसे हम जीवन के कुछ रहस्यों को खोज पाते हैं वैसे-वैसे उससे और अधिक रहस्य प्रकट होते रहते हैं ।

### मोक्ष की प्रक्रिया

प्रश्न होता है—जीव से मोक्ष तक, आत्मा से परमात्मा तक पहुंचाने वाले आलंबन क्या हैं ? कहा गया—सबसे पहले जीव और अजीव को जानो । जीव अलग है और अजीव अलग है, इस बात को जानो । जीव और अजीव को जानने के बाद जीव की गति को जानो—जीव गति करता है, परिभ्रमण करता है । गति और परिभ्रमण का मूल हेतु है—पुनर्जन्म । पहली सचाई है—जीव है । दूसरी सचाई है—पुनर्जन्म है, नाना प्रकार के रूपों में जीव अपना जीवन चलाता है । वह कभी मनुष्य बनता है, कभी पशु, कभी नारक और

कभी देव बनता है। तीसरी सचाई है—कर्म। कर्म के बिना पुनर्जन्म का कोई हेतु नहीं बनता। चौथी सचाई है—बंध और मोक्ष। जो कर्म को जानता है, वह पुण्य और पाप को जान लेता है, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है। पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष—ये चार मूल सूत्र पकड़ में आ जाते हैं तो मोक्ष की प्रक्रिया समझ में आ जाती है। जिसने इन चार सूत्रों को पकड़ लिया, जीवन का पूरा चित्र उसके सामने आ गया।

### जीव : मोक्ष

जीवन के रहस्यों को कोई नहीं जानता। जो वर्तमान में हो रहा है, आदमी उसे ही जानता है। वह अतीत को भी पूरा नहीं जानता, भविष्य को तो जानता ही नहीं है। हम जीवन के शेष सारे रहस्यों को छोड़कर मूलभूत चार रहस्यों को पकड़ लें—जीव है, पुनर्जन्म है, कर्म है, बंध और मोक्ष है। कर्म बंध रहा है, वह बंधते-बंधते रुक गया और मोक्ष हो गया। मोक्ष और परमात्मा क्या है? जब तक कर्म बंध रहा है तब तक आत्मा आत्मा है, जीव है। जिस क्षण कर्म का बंध समाप्त हो गया, आत्मा परमात्मा बन गया, जीव का मोक्ष हो गया।

### मोक्ष की व्याख्या

जैन दर्शन में मोक्ष की जो व्याख्या की गई है, उसका अर्थ है—आत्मा का अपने रूप में अवस्थित हो जाना मोक्ष है। न कोई स्थान का नाम है—मोक्ष और न कोई घाम का नाम है—मोक्ष। न शरीर से संबंध, न पुद्गल से संबंध और न पदार्थ से संबंध। इन सबसे संबंध-विच्छेद हो जाना ही परमात्मा होना है। जैन दर्शन की परमात्मा संबंधी जो अव-

धारणा है, वह भिन्न प्रकार की है। कुछ दार्शनिक मानते हैं— जो अनुग्रह और निग्रह करता है, जो भाग्य-विधाता है, जो न्याय करता है, अन्यायी को दण्ड देता है, वह परमात्मा है। किन्तु जैन दर्शन का परमात्मा न अनुग्रह करना जानता है। न निग्रह करना जानता है, वह केवल अपने आप में रहता है।

### परमात्मा

प्रश्न है—स्थूल नियमों में जीने वाला इन सूक्ष्म नियमों में कैसे विश्वास करेगा ? स्थूल जगत् में परमात्मा उसे माना जाता है, जिसमें नेतृत्व के दोनों गुण हों—अनुग्रह करना और निग्रह करना, न्याय को प्रोत्साहन देना और अन्याय का प्रतिकार करना। जैन दर्शन का परमात्मा नेतृत्व के गुण से भी रहित है। फिर कोई आदमी ऐसे परमात्मा की पूजा और भक्ति क्यों करेगा ? जो उदासीन, मध्यस्थ या तटस्थ है, उससे व्यक्ति का क्या हित सधेगा ?

### विशुद्ध आत्मा

ईश्वर के साथ, परमात्मा के साथ जो कर्तृत्व की बात जोड़ी गई है, वह बड़ी विवादास्पद है। हम जिसे ईश्वर या परमात्मा मानें और उसके साथ कर्तृत्व को जोड़ें, यह बड़ा अटपटा-सा लगता है। जहां ईश्वर के साथ कर्तृत्व को जोड़ा, वहां हमने ईश्वर को अपनी भूमिका पर उतार दिया, एक सामान्य आदमी बना दिया। ईश्वर एक विशुद्ध आत्मा है, राग-द्वेष मुक्त आत्मा है। उसका आसन ऐसा होना चाहिए कि वह सबके लिए समान हो और सब उसके लिए समान हो। जिसके ज्ञान-दर्शन पर कोई आचरण नहीं रहा, जिसके कार्य में कोई विघ्न और बाधा नहीं रही, जिसे विश्व का कोई तत्त्व

प्रभावित नहीं कर सकता, जो सर्वथा अप्रभावित हो गया और अपने आनंद में लीन हो गया, वह है—परमात्मा । उसके साथ कर्तृत्व की बात को जोड़ना संगत प्रतीत नहीं होता ।

### सूक्ष्म जगत् : स्थूल जगत्

परमात्मा पर स्थूल जगत् के नियम लागू नहीं होते । सूक्ष्म जगत् के नियमों से जुड़ा होता है—परमात्मा । स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् के नियम अलग-अलग होते हैं । एक व्यक्ति के सामने दो चीजें पड़ी हैं—एक है सूक्ष्म बाल, दूसरा है—काठ का बड़ा टुकड़ा । व्यक्ति के हाथ में उसे काटने के लिए कुल्हाड़ी है । व्यक्ति कुल्हाड़ी चलाएगा तो काठ का बड़ा टुकड़ा कट जाएगा पर बाल नहीं कटेगा । जिस कुल्हाड़ी से काठ कट सकता है उससे छोटा-सा बाल नहीं कट सकता । क्योंकि स्थूल जगत् के नियम सूक्ष्म जगत् पर लागू नहीं होते । हम स्थूल जगत् के नियमों से परिचित हैं किन्तु सूक्ष्म जगत् के नियमों को नहीं जानते । इसी कारण आत्मा और परमात्मा के विषय में बहुत सारे प्रश्न और संदेह पैदा होते हैं । जब तक आदमी केवल स्थूल नियमों की सीमा में घिरा रहेगा तब तक वह संदेहों के घेरे में रहेगा । जब वह सूक्ष्म नियमों को जानने लगेगा, सारे संदेह मिटते चले जाएंगे । बहुत सारे चमत्कार, जिन्हें आम आदमी चमत्कार मानता है, एक वैज्ञानिक के लिए कोई चमत्कार नहीं होते, क्योंकि वह नियमों को जानता है ।

### स्थूल जगत् से परे

हम स्थूल जगत् के नियमों को स्थूल जगत् के संदर्भ में देखें, सूक्ष्म जगत् के नियमों को सूक्ष्म जगत् के संदर्भ में देखें ।

जो व्यक्ति स्थूल जगत् के बटखरों से सूक्ष्म जगत् को तोलना चाहता है, वह सदा भ्रांति में रहता है। सम्यग् दृष्टि वह होता है, जो स्थूल जगत् के नियमों को स्थूल जगत् में और सूक्ष्म जगत् के नियमों को सूक्ष्म जगत् में लागू करता है। जब आत्मा परमात्मा बन जाती है तब उसका स्थूल जगत् के नियमों से सम्बन्ध टूट जाता है। उस स्थिति में केवल अस्तित्व रहता है और अस्तित्व पर व्यक्तित्व का नियम लागू नहीं होता।

### प्रश्न है आनंद का

एक बड़ा प्रश्न है—जब परमात्मा कर्ता नहीं है तो वह अनंतकाल तक बैठा-बैठा क्या करेगा? क्या उसे ऊब और थकान नहीं आएगी? इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है। हम हलचल भरे जीवन को ज्यादा पसंद करते हैं। हमने यह मान लिया है—तोड़-फोड़ करना, लड़ना-भिड़ना, इधर-उधर की करते रहना, यही जीवन का आनंद है। हमें इसमें रस है, इसलिए हम शेष को नीरस मान लेते हैं। हमें इस नियम का पता नहीं चलता—अपने अस्तित्व में होना परमात्मा होना है, परम आनन्द में होना है।

जो लोग मोक्ष के संदर्भ में ऐसा प्रश्न उठाते हैं, वे निगोद के संदर्भ में इस प्रश्न को क्यों नहीं उठाते? एक एकेन्द्रिय जीव अनंतकाल तक उसी अवस्था में रहता है, अव्यक्त जीवन जीता है। क्या वह एक ही अवस्था में रहता हुआ थकता नहीं है? जीव अनंतकाल तक निगोद में रहता है। यदि वह अनंतकाल मोक्ष में रह जाए तो कौनसी बड़ी बात है?

## कोई सीमातीत नहीं है

एक सार्वभौम नियम है—अनंतकाल तक कोई भी सांसारिक जीव एक अवस्था में नहीं रह सकता। जीव मनुष्य बनता है तो एक निश्चित आयु-सीमा से बंधा होता है। पशु, पक्षी या देव बनता है तो एक निश्चित आयु-सीमा से बंधा होता है। संसार में पुनर्जन्म करने वाले जितने जीव हैं, वे अपनी निश्चित आयु-सीमा के साथ चलते हैं। वे जीते हैं और जीवन की मर्यादा समाप्त होने पर चले जाते हैं। निरवधि कोई नहीं है, सीमातीत कोई नहीं है। निरवधि वाला स्थान एक ही है, और वह है अपने आपमें होना। यह लोक सूक्ष्म जीवों से कैसे भरा पड़ा है? इस संसार में जावों की क्या स्थिति है? शुद्ध आत्माओं की क्या स्थिति है? यदि हम इन सब बातों को जान लें तो आत्मा या परमात्मा के संदर्भ में होने वाले बहुत सारे संदेह समाप्त हो जाएं।

## वर्तमान को देखें

महायान में इस भावना पर बल दिया गया—

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।

कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनां अतिनाशनम् ॥

मुझे न राज्य चाहिए, न स्वर्ग चाहिए। मैं चाहता हूँ— जो प्राणी दुःख से पीड़ित है, उसका दुःख मिट जाए। इसके सिवाय मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

यह भावना उदात्त है। पर नियम क्या है? मरने के बाद कौन कहां जाएगा, इस नियम का ज्ञान किसे है। हम अनंत जन्म-शृंखला की क्या बात करें? हमें अगले जन्म का भी पता नहीं है। हम यह मानकर चलें—जगत् का प्रत्येक प्राणी प्राकृ-

तिक नियमा स बंधा हुआ है। प्राकृतिक, जागतिक नियमों (Universal Law) से कोई भी मुक्त नहीं है। हम वर्तमान में अच्छा ज्ञान करें, अच्छा आचरण और व्यवहार करें, हमारे हाथ में इतना ही है। यदि हमारा वर्तमान अच्छा है तो भविष्य अच्छा होगा। मोक्ष आखिर है कहां? वह कहीं बाहर नहीं है। आत्मा से भिन्न नहीं है परमात्मा। आत्मा ही परमात्मा में परिणत हो जाता है, बदल जाता है। परमात्मा का बीज है आत्मा। जब बीज प्रस्फुटित होता है, परमात्मा बन जाता है। हम परमात्मा को बाहर खोजेंगे तो वह नहीं मिलेगा।

### यात्रा करें भीतर की

मध्यकालीन संतों ने इस सचाई को बहुत उजागर किया कि तुम बाहरी तीर्थों को यात्रा करते हो किन्तु असली तीर्थ तुम्हारे भीतर है। कस्तूरी मृग बाहर ही बाहर दौड़ता रहता है, किन्तु अपनी नाभि में बसी कस्तूरी से अनजान बना रहता है। तुम बाहर की यात्रा बंद करो, अपने भीतर आओ। ध्यान का महत्त्व इसी बिंदु पर आधारित है। समस्या यह है—भीतर की खोज नहीं चलती, हम बाहर की यात्रा में ही उलझे हुए हैं। हम एक बार बाहरी यात्रा को स्थगित करें, भीतर की यात्रा आरंभ करें। भीतर की यात्रा करने का अर्थ है—ध्यान-साधना और इसी यात्रा का नाम है—आत्मा से परमात्मा तक पहुंचना।

### यही है मोक्ष

यदि यह पूछा जाए—आत्मा और परमात्मा में दूरी कितनी है? तो मेरा उत्तर होगा—ज्यादा से ज्यादा एक मीटर। हम शक्तिकेन्द्र से ज्ञानकेन्द्र की यात्रा करें, यह

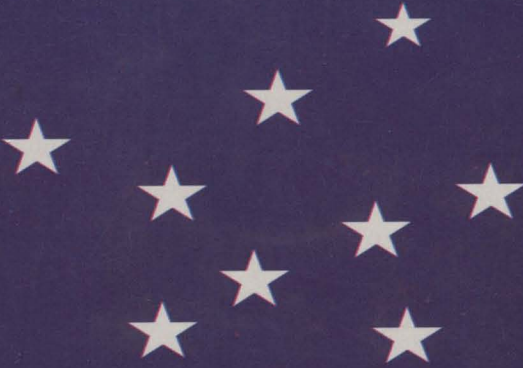
परमात्मा की यात्रा है। प्राणधारा को नीचे से उठाना और ऊपर ले जाना, यह है हमारा मोक्ष। जो वृत्तियां जागृत होकर मनुष्य को संसार में ले जाती हैं, वे नीचे की ओर जाती हैं। जो वृत्तियां जागृत होकर मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती हैं, वे ऊपर की ओर जाती हैं। स्वार्थ हमेशा नीचे की ओर जाएगा। जितने परमार्थ के विचार हैं, वे ऊपर की ओर जाएंगे। नीचे से ऊपर की ओर जाना परमात्मा होना है।

### संसार और मोक्ष

कहा जा सकता है—शरीर में ही संसार है और शरीर में ही मोक्ष है। यदि यह परिकल्पना स्पष्ट हो, हम मोक्ष को समझें तो जीव से अस्तित्व तक की, आत्मा से परमात्मा तक की यात्रा निर्बाध सम्पन्न हो जाती है। हम इस सचाई को जानें। इसमें दृढ़ आस्था, विशुद्ध चेतना और भावक्रिया बहुत सहायक होती हैं। इनसे भी ज्यादा सहायक बनती है हमारी जागरूकता। जैसे-जैसे जागरूकता बढ़ेगी, परमात्मा तक पहुँचने की दिशा स्पष्ट होती चली जाएगी। यह दिशा की स्पष्टता ही आत्मा से परमात्मा तक की यात्रा को सम्पन्न करने में प्रमुख हेतु बनती है।







**जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)**